- श्री राम -

कैलाश दर्शन

स्वामी रामानन्द जी ब्रह्मचारी, एम.ए.

कैलाश दर्शन

स्वामी रामानन्द ब्रह्मचारी, एम.ए.

साधना परिवार
स्वामी रामानन्द साधना धाम
संन्यास रोड, कनखल
हरिद्वार, उत्तराखण्ड

प्रथम संस्करण - 1946
द्वितीय संस्करण - 1964
तृतीय संस्करण
चतुर्थ संस्करण - 2021

© सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशक
साधना परिवार
स्वामी रामानन्द साधना धाम
संन्यास रोड, कनखल, हरिद्वार, उत्तराखण्ड

कम्पोजिंग
ग्रेटो इंटरप्राइजेज
जी-30, सरिता विहार, नई दिल्ली-110076, दूरभाषः 9910794578

मुद्रक
रैक्मो प्रैस प्राईवेट लिमिटेड
सी-59, ओखला इण्डस्ट्रियल एरिया फेज़-1, नई दिल्ली-110020

- श्री राम -

प्रस्तावना

प्रथम संस्करण

कितनी प्रतीक्षा के बाद कैलाश-दर्शन हम पाठकों के हाथ में दे रहे हैं। कितनी उत्सुकता से लोग इसकी माँग कर रहे थे, और कितनी अड़चनें आई इसके प्रकाशन में।

यह पुस्तक, वास्तव में, पूज्य श्री स्वामी जी ने प्रकाशन के लिये नहीं लिखी थी। साधना की दृष्टि से इसका उतना महत्व भी न था। अतः दूसरी साधना सम्बन्धी पुस्तकों के प्रकाशित हो जाने पर ही इसको प्रकाशित किया जा सका। अतः पाठक हमें क्षमा करेंगे।

जैसी भी छपी है, आपके सामने है। हमें सन्तोष अवश्य हो रहा है इसकी छपाई पर, अपनी सीमाओं को देखते हुए। यद्यपि हम यह जानते हैं कि इसे और अधिक सुन्दर बनाया जा सकता था।

इसके प्रकाशन का खर्चा भी साधना परिवार के एक सदस्य ने उठाया है। हम उसके आभारी हैं।

बीसलपुर
28.9.1946

काशीनाथ मित्तल
बीसलपुर, पीलीभीत

- श्री राम -

प्रस्तावना

द्वितीय संस्करण

पूज्य गुरुदेव रचित 'कैलाश-दर्शन' अपने में एक अद्वितीय ग्रन्थ है - अलौकिक कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। यह ग्रन्थ यात्रा-वर्णन मात्र नहीं है, और न ही पावन कैलाश की महिमा का वृतान्त, अपितु यह एक अध्यात्म-ग्रन्थ है।

मैंने इसे कई बार पढ़ा है और अब भी पढ़ता रहता हूँ। जब भी पढ़ता हूँ ऐसे लगता है कि मैं स्वयं गुरुदेव के साथ यात्रा कर रहा हूँ। उनका सान्निध्य सजीव हो उठता है। ऐसे लगता है कि वे हैं, सजीव मेरे साथ। और ऐसा अनुभव हुआ है अनेकों को।

इस यात्रा में गुरुदेव के हृदय में जो भाव उठे, अन्तर्जगत में जो अनुभूतियाँ हुई, उनकी चेतना ने जो उड़ान भरी, उन्हें पढ़कर, पाठक की चेतना भी उन्हीं ऊँचाइयों के आस-पास कहीं मण्डराने लगती है। पुलक हो उठता है उसका मन और शरीर, समाधि सी जैसे लग जाती हो।

उसे भान होता है कि गुरुकृपा उस पर है और इस कृपा का बढ़ता हुआ प्रवाह उसे कृतकृत्य कर देता है। यह अनुभवगम्य सत्य है।

एक स्थल पर गुरुदेव लिखते हैं : ''उस प्रकृति के सौन्दर्य को लखकर, उस शान्त स्थल में मेरी विचारमाला तो शंकर के चरणों की ओर प्रेरित हो उठी। शंकर ही तो वह चेतना हैं जिसने मुझे शरण दे रखी है, जिसने मुझे अपनाया है। वे ही तो मेरी माँ बन आज तक मेरी रक्षा और पथ-प्रदर्शन करते रहे हैं।... मेरा मस्तक उन्हीं चरणों में नत है।''

इसे पढ़ते-पढ़ते पाठक को प्रतीत होने लगता है कि गुरु ही उसके शंकर भगवान हैं। वह उन्हीं की शरण में है और वे ही उसकी रक्षा और पथ-पदर्शन कर रहे हैं। भले ही अल्पकाल के लिये सही, पाठक बहुत ऊँचे चैतन्य के स्तरों में स्थित हो जाता है।

आखिर गुरुदेव ने कैलाश-यात्रा क्यों की ? कारण था साधना-काल में घटी एक महत्वपूर्ण घटना जो उनके जीवन को आमूल-चूल बदल

देने वाली थी। गुरुदेव मोटर में थे। सायं का समय था और मोटर दौड़ती हुई सोमेश्वर की ओर जा रही थी। गुरुदेव लिखते हैं ''किसी ऊँची अदेहधारी चेतना ने मेरा इन पर्वतों में स्वागत किया और लक्ष्य की प्राप्ति का आश्वासन भी दिया। उस चेतना का रक्षामय हस्त मेरे सिर पर बना ही रहा, ऐसा मैं प्रतीत करता रहा हूँ।... समय बीतता गया। वह समय भी आया जब मुझे उस चेतना का स्पष्ट अनुभव होने लगा। मैं पहिचानने लगा कि वह कौन है जिसकी कृपा का मैं पात्र बना हूँ। मैं उस चेतना को आदि गुरु शंकर की चेतना समझने लगा। यह आन्तरिक जगत का भान था।... वह चेतना मुझमें और मैं उस चेतना में धीरे-धीरे रमने लगा।... महाशक्ति के विचित्र प्रवाह को मैंने वहाँ अनुभव किया।... मानो व्यक्ति ने पार्थिव लोक का ही परित्याग कर दिया है।''

इतनी ही नहीं, यह पुस्तक लिखते समय भी गुरुदेव एक बार पुनः उसी दिव्य चेतना से युक्त हो गये थे। और सम्भवतः यही कारण है कि पाठक की चेतना भी, पुस्तक पढ़ते समय, उन्हीं ऊँचाइयों के समीप मण्डराने लगती है।

कैलाश-दर्शन इस दृष्टि से एक साधना ग्रन्थ है, एक आध्यात्मिक ग्रन्थ है, जिसमें क्षमता है साधक के विकास क्रम को आगे बढ़ाने की।

कैलाश-दर्शन का दूसरा संस्करण इन्हीं भावनाओं और सम्भावनाओं से गुरुदेव के निम्नलिखित शब्दों के साथ साधकों को समर्पित है।

'ओ! दिव्य गिरिशिखर कैलाश,
मेरा सर्वस्व उस आदि गुरु को समर्पित है,
मैं चाहता क्या हूँ?
केवल मात्र
उसका हो जाना, और
पूर्णरूपेण उस ही में निवास करना।
ऐसा मिलन जिसमें द्वैत की गन्ध न हो।
दो होते हुए भी एक हों हम
और एक होते हुए भी दो।
नहीं, नहीं जिसमें शिव ही शिव हो, केवल शिव हो,
मैं न हूँ।'

10.3.1964 **पुरुषोत्तम भटनागर**
(महाशिवरात्रि), लखनऊ

- श्री राम -

प्रस्तावना

चतुर्थ संस्करण

पूज्य गुरुदेव द्वारा रचित 'कैलाश-दर्शन' अपने-आप में एक अद्वितीय ग्रन्थ है। इसे अलौकिक कहा जाना भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। यह ग्रन्थ कैलाश यात्रा का केवल वर्णन मात्र नहीं है, और न ही पावन कैलाश की महिमा का वृतान्त है, अपितु यह एक अध्यात्म-ग्रन्थ है।

इसके तृतीय संस्करण को मुद्रित हुए बहुत समय हो जाने के कारणवश अब इसकी प्रतियाँ साधना धाम कार्यालय में लगभग समाप्त हो चुकी हैं। साधकों की निरन्तर मांग को देखते हुए, और कोविद-19 महामारी और धाम में साधकों की व्यक्तिगत उपस्थिति कम होने के कारण यह निर्णय लिया गया है कि इस ग्रन्थ का अभी त्रुटि सुधार के पश्चात केवल ऑनलाइन संस्करण निकाला जाये। मुद्रित संस्करण परिस्थितियाँ सुधरने पर निकाला जा सकता है।

आशा है साधकगण 'कैलाश-दर्शन' के इस ऑनलाइन संस्करण को पढ़कर उतने ही लाभान्वित होंगे जितना कि स्वामी जी के अन्य मुद्रित ग्रन्थों को पढ़कर होते हैं।

14.01.2021
(मकर संक्रान्ति)
नई दिल्ली

साधना परिवार
स्वामी रामानन्द साधना धाम
संन्यास रोड, कनखल, हरिद्वार, उत्तराखण्ड

स्वामी जी की कैलाश यात्रा मार्ग का मानचित्र

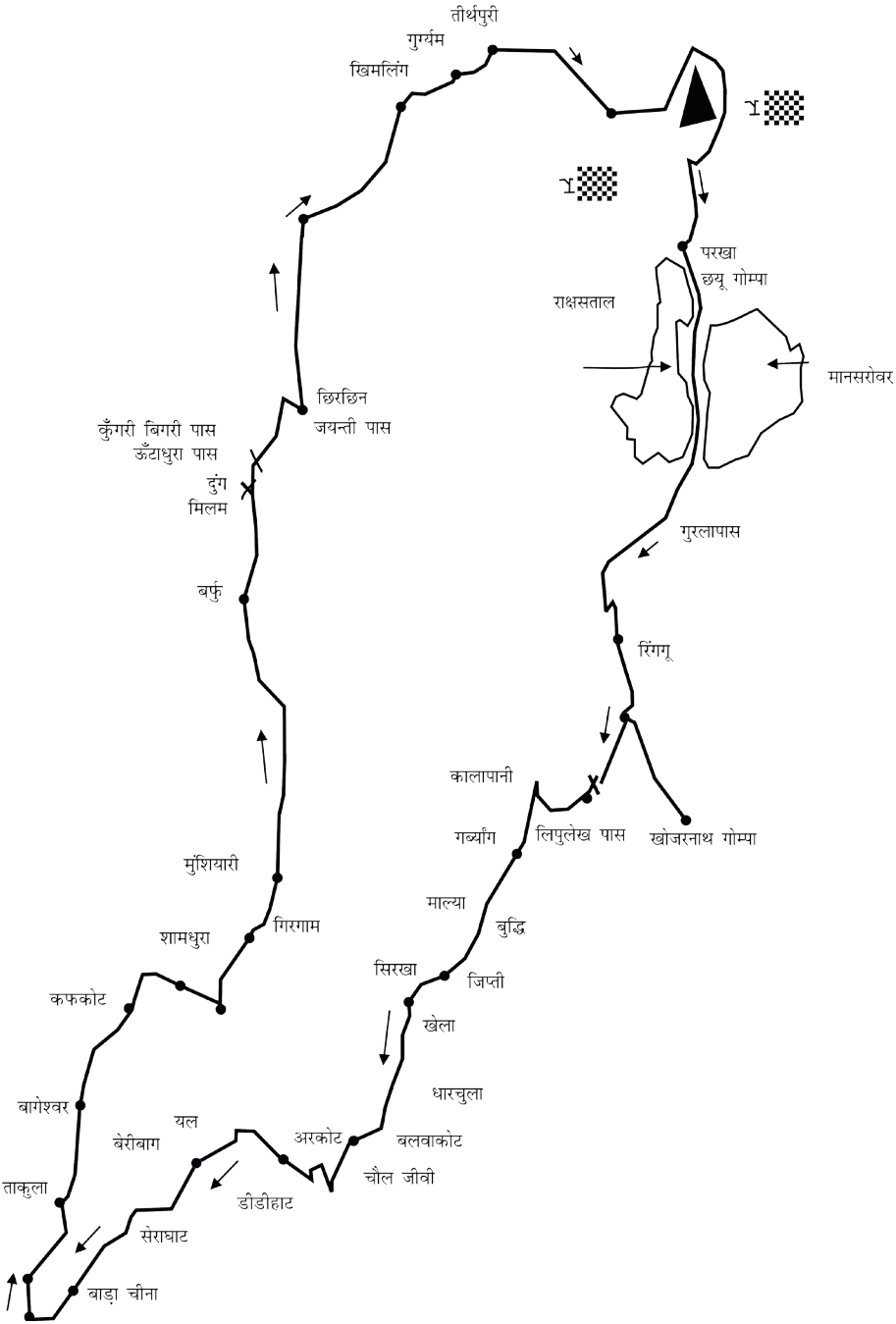

- श्री राम -

पूज्य गुरुदेव के दो शब्द

प्रिय बन्धुओं,

आज मैंने फिर लेखनी को उठाया है। गत वर्ष भी इन्हीं दिनों मैंने 'अध्यात्म विकास' और 'आध्यात्मिक साधन' पर लिखा था। परन्तु इस बार तो कुछ और प्रकार की प्रेरणा ही प्रेरक है। कैलाश-यात्रा से मैं अभी-अभी लौटा हूँ। वे अनुभूतियाँ अब मनोरम स्मृतियाँ बनकर अन्तर को उद्वेलित कर रही हैं। उन अनुभव की हुई चेतनाओं को फिर उद्भावित करना और शब्दों में चित्रित करने का प्रयत्न, एक रुचिकर खेल-सा प्रतीत होता है। कुछ अनुभूतियाँ तो वास्तव में ऐसी भी हैं कि यदि मैं उनकी झाँई भी आप में जागृत कर सकूँ तो आपके लिये वह बहुत हितकारी होगी, आपके विकास की दृष्टि से।

खेल खेलने में, मनोविनोद में, मैं किसी प्रकार की बुराई नहीं देखता। बालक तो खेल से ही विकास पाते हैं। उनका जीवन ही तो एक बड़ा खेल-सा रहता है बड़ों की दृष्टि में; परन्तु बड़े हो जाने पर व्यक्ति में गम्भीरता आती है, आसक्तियाँ तथा महत्वाकांक्षायें जगती हैं, अपने महत्व को वह स्थापित कर लेता है। अब उसे अपना जीवन खेल नहीं लगता और न ही अपने समान दूसरे व्यक्तियों का ही जीवन। उनमें वह उद्देश्यों को आसक्ति की दृष्टि से देखने लगता है और उसी के अनुसार चिन्ताओं का भी पोषण करता है, परन्तु जो विकास के क्षेत्र में उससे आगे बढ़े हैं उनको उसकी सभी क्रियायें, सभी उद्देश्य और उनकी पूर्ति के लिये की गई हलचल - सभी एक खेल ही दीखता है। यदि दृष्टि ज़रा और ऊपर उठाई जा सके तो यह सारा विश्व भी उस पुरुषोत्तम की, महाशक्ति की, क्रीड़ा ही तो दीखती है, आनन्दमयी लीला ही तो लगती है। इस दृष्टि को-इस चेतना को लाभ कर व्यक्ति आनन्द-पूर्ण हो जाते हैं और उस लीलामय की लीला में सतत योग दिया करते हैं।

मैं भी ऐसा ही खेल खेलने जा रहा हूँ। और यह है आँख-मिचौनी का सा खेल या यूँ कहिए कि अपनी छाया को स्वयं पकड़ने का प्रयास। जैसे ठोस वस्तुओं को रेखाओं द्वारा कागज पर अंकित करने का प्रयत्न आंशिक सफलता को ही प्राप्त कर सकता है, ठीक वैसे ही वाणी भी चेतना की उन विशुद्ध उच्च अनुभूतियों को प्रकट करने में थोड़ी ही सफलता प्राप्त कर सकती है। वाणी संकेत मात्र करेगी। आँख वाले देख पायेंगे, उस संकेत से ही। इस महती सीमा के होने पर भी यह खेल खेलने योग्य ही है। यह प्रयत्न ही एक आनन्द का कारण है। अपने में तो उस चेतना की जागृति तथा उन अनुभवों की स्मृति को उभाड़ना कठिन नहीं, और अब फिर से उस जीवन को जी जाना पार्थिव-स्तर की सीमाओं से मुक्त होकर, स्मृति के सजीव जगत् में विशेष आनन्द-प्रद प्रतीत होता है। यही प्रेरणा है इन आगामी पृष्ठों के लिये।

न जाने क्यों आज मुझे सभी कुछ सजीव, सचेतन दिखाई पड़ रहा है। लेखनी को मैं सखी सा प्रतीत करता हूँ और वैसे ही दवात, कागज़ तथा इस स्थल को, जहाँ पर आश्रित हो मैं यह कृत्य कर रहा हूँ। मैं जानता हूँ कि मेरी कृति वास्तव में मेरी ही कृति नहीं. वह तो अनेकों की सम्मिलित कृति होगी। मैं उन सब में केवल एक हूँ। आज एक विचित्र श्रद्धामयी भावना सभी की ओर प्रेरित हो रही है, जिन्हें लोग जड़ कहते हैं उनके लिये भी।

'ऐ लेखनिके! तू मेरा योग देना, और मसी तू भी। हम मिलकर उन पुण्य-स्थलों की स्मृतियों को अंकित करने का लीलामय प्रयत्न करेंगे। अब हम कैलाश-दर्शन के लिये अपने कदम बढ़ाते हैं।'

रामकुटीर,
दिगौली (अल्मोड़ा)
28.8.1946

आपका अपना,
प्रभु के नाते
रामानन्द

- श्री राम -

विषय-सूची

प्रस्तावना (प्रथम संस्करण)..... 3
प्रस्तावना (द्वितीय संस्करण)..... 5
प्रस्तावना (चतुर्थ संस्करण)..... 7
पूज्य गुरुदेव के दो शब्द..... 9
1. कैलाश-यात्रा.....15
2. जौहार का मार्ग.....17
3. बागेश्वर से आगे.....20
4. पथ भ्रष्ट.....23
5. राम गंगा के उस पार.....27
6. गिरगाँव में कुली शेड.....31
7. कालामुनि की चढ़ाई.....34
8. बर्फों की ओर.....36
9. बर्फों के समीप.....41
10. बुर्फु में मुक़ाम.....44
11. मिलम से प्रस्थान.....47
12. वह अलौकिक भूमि.....52
13. ऊँटा, जयन्ती और कुँगरी बिंगरी.....56
14. तिब्बत में प्रवेश.....61
15. तीर्थापुरी की ओर.....65
16. तिब्बत के मैदान.....68
17. भीतर की एक झाँकी.....73
18. गुर्ग्यम का विहार.....75
19. तीर्थापुरी.....79

20. कैलाश का प्रथम दर्शन. 85
21. कैलाश के चरणों में. 90
22. कैलाश की परिक्रमा. 94
23. गौरी कुण्ड की दिशा में. 97
24. वह दिव्यस्थल. 104
25. दर्चिन की ओर. 107
26. दर्चिन की मण्डी. 113
27. मानसरोवर की ओर. 114
28. राक्षसताल के किनारे. 119
29. तकलाकोट की ओर. 124
30. तकलाकोट में. 127
31. लिपुलेख का घाटा. 132
32. कालापानी. 139
33. गर्ब्यांग की ओर. 141
34. मालिया और जिप्ती. 145
35. शमखोला और आगे. 150
36. नारायण आश्रम. 154
37. खेला से भी आगे. 156
38. कालिका से अस्कोट. 158
39. डीडीहाट. 164
40. मसमौली. 165
41. वह कोटेश्वर की धार. 169
42. रीठागढ़ का धाम. 171
43. उपसंहार (यात्रियों से). 176
आधुनिक समय में कैलाश यात्रा. 179

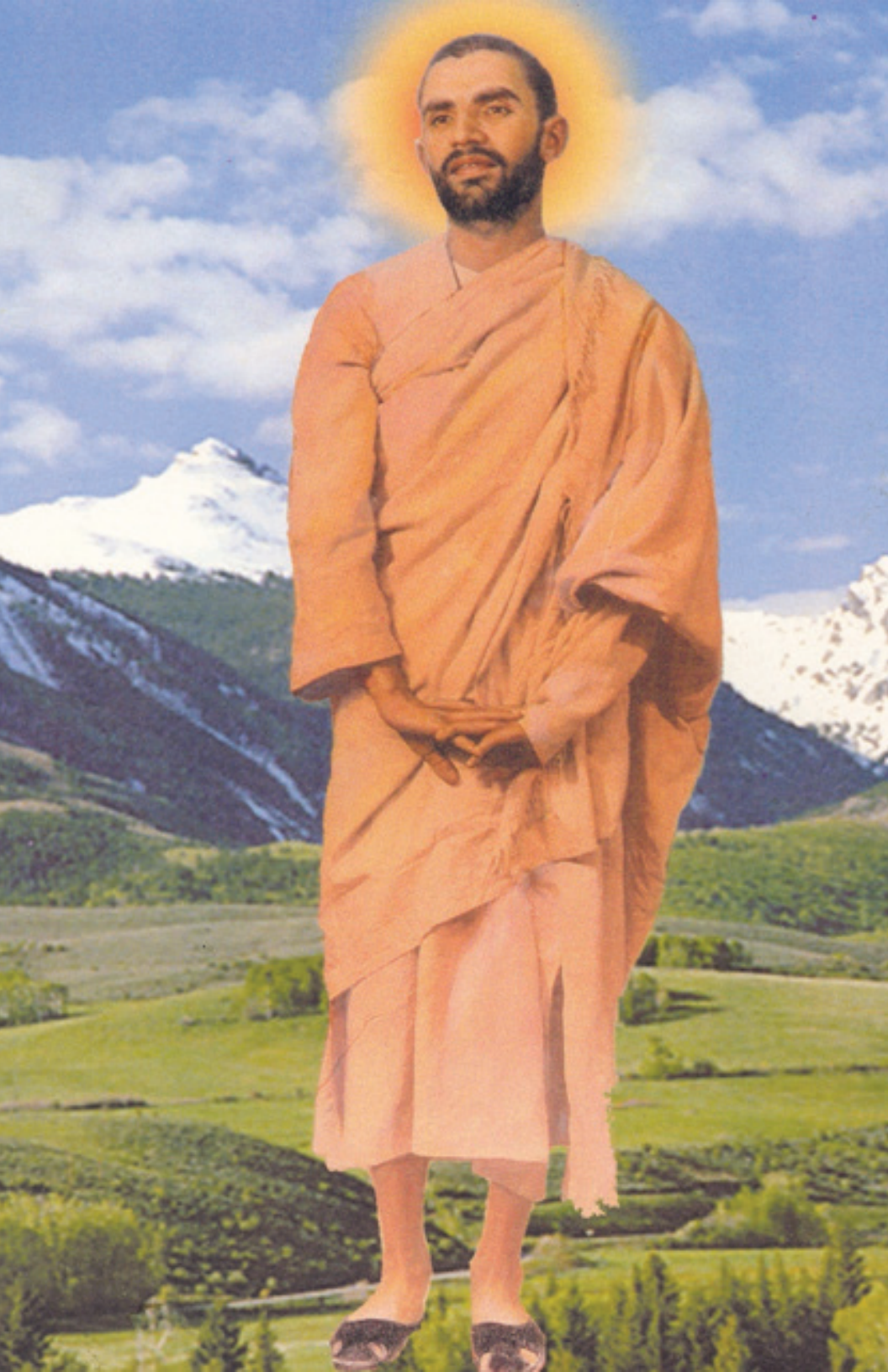

मानसरोवर

- श्री राम -

(1)

कैलाश-यात्रा

कैलाश जाने के पथ अनेक हैं। विभिन्न धुरों को पार करके यात्री कैलाश पहुँचते हैं, परन्तु सबसे अधिक सुगम तथा प्रचलित पथ तो अल्मोड़े वाला ही है। वर्ष में कम से कम पाँच मास मेरे अल्मोड़े के आस-पास ही व्यतीत होते रहे हैं। प्रति वर्ष यात्रियों को कैलाश के लिये जाते हुए देखा तथा सुना करता था और फिर लौटकर आये हुए यात्रियों की कुछ चर्चा भी सुनने को मिलती थी। कुछ पुस्तकें भी इसी विषय पर हाथ लगी थीं। अतः इच्छा जागृत हुई कि स्वयं उस भूमि को और कैलाश को देखें। एक दूसरे मित्र भी लगभग 20 बरस से कैलाश जाने की सोच रहे थे। उन्हीं के घर पर गत वर्ष चर्चा हो रही थी। शायद सितम्बर का महीना रहा होगा।

वह मित्र बोले, 'अबके कैलाश चलें।' मैंने कहा – 'हर साल की सोच तो मुझे पसन्द नहीं। निश्चय करना हो तो पक्का करियेगा, मैं भी वैसा ही अपना कार्यक्रम बनाऊँ, तब फिर चलना ही पड़ेगा।' उन्होंने कहा – 'हाँ, बस, निश्चय ही आगामी वर्ष चलेंगे।'

मैंने कहा – 'ठीक! सम्भवतः दो सज्जन देश* के भी साथ चलने का आग्रह करेंगे। उन्हें भी ले चलना होगा परन्तु मैं कोशिश करूँगा कि साथ बहुत बढ़ न जाये, नहीं तो कठिनाई होगी।

गत वर्ष स्वामी विद्यानन्द जी के आग्रह से मैं तो तैयार हो ही रहा था और मास्टर कर्पूरी लाल भी, परन्तु अन्तरात्मा जाने के लिये प्रेरित नहीं कर रही थी, इसीलिये न गया। मास्टर साहब तो निराश

---

*देश - पहाड़ों में देश मैदान को कहा जाता है। इसका कारण सम्भवतः यही है कि यहाँ लोग बाहर से आकर बसे हैं।

हो चुके थे। श्री बाबूराव कुमठेकर (एक दूसरे मित्र) मुझसे वचन ले गये थे कि आगामी वर्ष मुझे उनको साथ ले जाना होगा।

जाड़े बीते, और गर्मियाँ आने लगीं। यात्रा के बारे में जानकारी तथा तैयारी की चर्चा चलने लगी। समय के बारे में अनुभवी लोगों से पूछताछ होने लगी। देश वाले दोनों मित्र, कर्पूरी लाल तथा नरेन्द्र कुमार, भी उत्सुक हो रहे थे। वे लोग जून के अन्तिम सप्ताह में अल्मोड़े आ पहुँचे। 5 जुलाई को चलने का अन्तिम निश्चय था।

पहाड़ में रहने वालों के लिये कैलाश यात्रा इतनी भयंकर नहीं जितना कि मैदान में रहने वालों के लिये है। यहाँ पर ऐसे भी लोग हैं और स्त्रियाँ भी जो चार-चार बार कैलाश-यात्रा कर चुके हैं। जैसे-जैसे प्रस्थान का दिन निकट आने लगा वैसे ही साथियों की संख्या बढ़नी आरम्भ हो गई। कई माताओं का भी साथ चलने का आग्रह हुआ। वह आग्रह ही नहीं था, निश्चय ही था और वैसा ही हुआ। हम लोग 11 हो गये थे चलने वाले और एक श्री नारायण स्वामी मिलम में मिलने के विचार से पहले ही चले गये थे, अपना सामान छोड़कर। छः माताओं के अतिरिक्त वह मित्र भी थे जिनके घर पर पूर्वकथित चर्चा चली थी – पण्डित गोविन्द वल्लभ पन्त, इंजीनियर, जिला बोर्ड, अल्मोड़ा – दो देश वाले मित्र, एक नौकर और मैं। नौकर का नाम था दुर्गादत्त।

कुलियों का भी प्रबन्ध हो ही गया, यद्यपि काफी दौड़-धूप करनी पड़ी। अपनी समझ के अनुसार सामान रखा गया। तिब्बत तो ऐसी भूमि है जहाँ खाने के लिये कुछ न मिलेगा, यह हम जानते थे, परन्तु सभी कुछ अल्मोड़े से लेकर चलना भी तो उचित तथा सम्भव न था। कई तरह की सटर-पटर सन्दूकों में भरकर 5 जुलाई को मध्यान्होपरान्त हम सब चल दिये। धूप कड़ाके की थी, पसीना चूता था और प्यास भी व्याकुल कर रही थी। कई हृदयों में उल्लास था। जिनसे हम बिदा हुए थे वे मंगलकामनाएँ कर रहे थे। कैलाश की यात्रा सुगम नहीं है। सभी धामों में कठिन धाम है कैलाश। इस यात्रा में कइयों ने अपने प्राण खोये हैं। इन भावों को लिये, उस बिदा के उपरान्त हमने कैलाश पथ पर पग धरे।

मेरा चित्त शान्त था। मानो कुछ हो ही न रहा हो। एक विचित्र सी विचार शून्यता थी।

अन्तिम दिन तक कुमठेकर की राह देखता रहा परन्तु वह न आये। उनका स्वास्थ्य तथा अन्य आवश्यक कार्य बाधक हो गये।

(2)

जौहार का मार्ग

अल्मोड़े से तिब्बत में प्रवेश करने के दो प्रधान मार्ग हैं। एक मार्ग पश्चिम की ओर से जाता है। उस पर अन्तिम बस्ती और डाकघर मिलम है। पूर्व वाले पर गर्ब्यांग। दोनों रास्तों से कैलाश जाना लगभग समान ही दूर पड़ता है।

गर्ब्यांग वाला पथ, सुगम-पथ है। एक ही धुरा (पहाड़) लाँघना होता है, लिपुलेख; और तिब्बत में चलना भी कम होता है। गर्ब्यांग तक जाना 140 मील है। इधर मिलम तक जाना तो केवल 105 मील होता है, परन्तु धुरे तीन लांघने पड़ते हैं और उनकी ऊँचाई भी बहुत है और उतना ही अधिक तिब्बत में भी चलना पड़ता है। मिलम वाला पश्चिमी-मार्ग जौहार की पट्टी में से होकर जाता है अत: इसे जौहार का मार्ग कहा जाता है।

'आसान रास्ते से जाने और लौटने में क्या मज़ा है। दोनों ही रास्ते देखने चाहिये।' यही प्रेरणा थी जिसने हमें जौहार का मार्ग लेने को बाधित किया।

जिस दृश्य को हम प्रतिदिन देखते हैं वह हमारे लिये नूतनता से रहित होता है और हमारी चेतना पर कोई विशेष प्रभाव नहीं डालता। वही दृश्य जब हमने पहले-पहल देखा था तो उसका विचित्र प्रभाव था। सामान्य पहाड़ी से किसी सुन्दर पर्वतीय स्थल को देखने को कहा जाये तो उसका उत्तर होता है – 'क्या है वहाँ, पत्थर तथा चट्टानें ही तो।' वह जाता है तो तीर्थ करने। मुझे इन पर्वतों में रहते कई

वर्ष हो गये। यहाँ के चीढ़ के जंगलों के दृश्य, खेतों की हरियाली और नदियों की कलकल तो मेरे मस्तिष्क में बस चुकी है। वह मन को शान्त तथा आह्लादित तो करती ही है, इसमें सन्देह नहीं परन्तु किसी नूतन चेतना को जागृत नहीं कर पाती। कर्पूरी लाल जी तो पहली बार ही पहाड़ों पर आये थे। वह तो हर दृश्य पर, हर वस्तु पर लट्टू से हुए जा रहे थे। अल्मोड़े से लेकर कफकोट तक का रास्ता और प्रदेश तो मेरी दृष्टि से सामान्य ही है।

पहली रात्रि ताकुला के डाक-बंगले में बीती। मातायें बाहर ही रहीं सड़क के किनारे। जाड़ा तो था नहीं। दिन में धूप ने काफी सताया था। नींबू के रस से शान्ति मिली थी। पहाड़ी ककड़ी (खीरा) भी खूब मज़ा देती है चलने में। एक मित्र ने वह भी भेंट की थी।

जब व्यक्ति रास्ते पर पड़ता है तो चलने के साथ लगी हुई समस्यायें सामने आती हैं। पहले दिन हम लोग अंधेरा होते-होते डाक-बंगले पर पहुँचे थे। अपने को झट से नये घर में बसाने की योग्यता तो धीरे-धीरे ही आती है। हम अभी नये-नये पथिक ही तो थे। टाँगें भी अभी नया-नया ही अभ्यास करने लगी थीं। धूप और चलना प्राणों को सोख लेते हैं। यही उस प्रथम दिन का अनुभव था। व्यक्ति की चेतना ऊँचे स्तरों को छोड़कर शरीर तथा प्राण में निवास करने लगती है। प्राण बुभुक्षित हुआ आहार को मांगता है और शरीर शिथिल हुआ पड़ जाने की जगह को।

नरेन्द्र ने अपने कन्धों पर झोला कसा था। उस झोले ने कन्धों तथा शरीर को कसा। वहाँ पहुँचते-पहुँचते उनके और-तौर बिगड़ रहे थे।

अगले दिन सवेरे खाना-पीना जल्दी-जल्दी हुआ। इस बीच में जो अवकाश मिला, उसमें मैंने पिछली डाक को निबटाया। और हम लोग दस बजे के लगभग रास्ता नापने लगे।

ताकुला से बागेश्वर (जो आगामी पड़ाव है) का रास्ता वास्तव में पर्वतीय है। देवलधार को लाँघना होता है और उसके लिये लगभग डेढ़ मील चढ़ना होता है। इधर तो रास्ता जंगल तथा गाँव में होता हुआ जाता है। इसी रास्ते पर पड़ता है इन पर्वतों का प्रसिद्ध गाँव

छौना बिलौरी जो एक पर्वतीय गीत में अमर हो चुका है। एक विवाह के योग्य आयु वाली कन्या गाती है –

'छौना बिलौरी जन दिया बौज्यू
लागला बिलौरी का घाम,'

(मुझे इस गाँव में मत देना, वहाँ की धूप मुझे लग जायेगी) और

'हाथ की दांतुली हाथ में रौली,
लागला बिलौरी का घाम,'

(घास काटने को जाऊँगी तो धूप लग जायेगी और मैं मर जाऊँगी। हाथ की दाँतुली हाथ में रहेगी।)

इसी प्रकार से और पद भी हैं। तीन वर्ष पूर्व (1943 में) मैं इसी रास्ते से पिण्डारी गिलेशियर देखने गया था। महीना सितम्बर का था। वहाँ पुरातन स्मृतियाँ जागृत हो रही थीं। एक पिछली यात्रा के संगी के मिल जाने से और भी ऐसा हुआ।

देवलधार तो धार होने से ठण्डा है। वहाँ पहुँचते-पहुँचते धुआँ सा लग गया था। दूरबीन बेकार थी अन्यथा यहाँ से हिमाच्छादित शृंगों का रम्य दृश्य दिखा करता है। ज़रा सी बूँदें आईं और हम इस टपटपाहट में जल्दी-जल्दी नीचे ढुलकते गये। रास्ता फिसलने वाला था। ऐसे ही रास्ते में तो लाठी की कीमत नज़र आती है। सचमुच वहाँ समा बंध रहा था। हरियाली अपनी शान में थी।

उस पर्वत के पाँवों में सरयू नदी बहती है। खूब गर्म है वहाँ और बड़े-बड़े मैदानी खेत हैं जैसे विरले ही पर्वतों में देखने को मिलते हैं। यहीं पर एक प्रसिद्ध खेत मिलता है जो सासूबुआरी का खेत कहाता है। एक किम्बदन्ती ने उस खेत को प्रसिद्ध कर रखा है। उस खेत की निरानी करके ही खाने के हठ के कारण दोनों सास-बहू ने प्राण दे दिये और खाना खेत के मध्य में ही रखा रह गया। उसकी निरानी खत्म होने से पूर्व ही वे मर गईं। खेत के मध्य में ज़रा ऊँचा स्थान भी है, जहाँ किम्बदन्ती के अनुसार खाना रखा गया था।

❖ ❖ ❖

(3)

बागेश्वर से आगे

सरयू के किनारे-किनारे उसकी कलाबाजियों को देखते हुए और फिर विशाल धान से ढके भूभाग को लाँघकर हम लोग साँझ को लगभग पाँच बजे बागेश्वर पहँचे। सरयू इन पर्वत निवासियों की गंगा है और बागेश्वर तीर्थ स्थल है। उत्तरायणी को पुण्योपार्जन के लिये पर्वतीय बहुत संख्या में यहाँ आते हैं। मेले में खूब ठेलमठेल रहती है। बागेश्वर की मण्डी भी तो विशेष महत्व की है। जौहार और तिब्बत की मण्डियों का माल यहाँ आता है। इन पहाड़ों में बड़ी जगह है बागेश्वर। बडा बाजार है, मन्दिर भी है और बस्ती ठीक सरयू के किनारे है। ऊँची दीवारें ही बस्ती को आप्लावित होने से रोकती हैं।

बागेश्वर का डाक-बंगला विशाल है और उसी के अनुरूप ही घास से ढका हुआ प्रांगण भी। उसी की दीवार के साथ नीचे सरयू अपनी कमनीय धारा को बहाती है। 'ऐसा लगता है सरयू का जल, मानो ताजी-ताजी छनी हो', कर्पूरी लाल ने कहा। प्यारे! मुझे तो इसका अनुभव नहीं। मैं तो इसे कमेट घुला सा देखता हूँ, ऐसी चर्चा करते-करते ही हमने उस झूला पुल को पार किया और डाक-बंगले की ओर बढ़े।

'आराम की जगह है और शान की भी' यही प्रतीत होता है आपातत:। बागेश्वर के केलों की स्मृति, जो स्नेही सज्जन लाये थे, आज भी है क्योंकि पेट को क्षुधा व्यथित कर रही थी और उस रात्रि की चाँदनी में कीर्तन। सभी तारें बिखर रही थीं। ढंग से साथ देने वाला ही कोई न था। अकेले ही चिल्लाना हो तो व्यक्ति अकेले ही बैठ कर क्यों न चिल्लाये। इसीलिये तो मैंने उस प्रकार का मिल बैठना बन्द कर दिया और रोज प्रात: थोड़ा-थोड़ा आँख मूँदकर ही कीर्तन करना आरम्भ कर दिया था। उसमें और ही मज़ा आता था। भाव की धारा में मैं बहा चला जाया करता था।

और मुझे याद है उसी रात्रि की, नीचे सरयू पर धू-धू एक चिता जल रही थी। उस अंधियारी में वह उजाला विचित्र था। चाँद तो छोटा था। उस उजाले को वह छिपा न सकता था। वहाँ दूर-दूर के शव दाह-संस्कार के लिये आते हैं, गंगा मैय्या सरयू के कारण।

उसी रात्रि को मैंने नरेन्द्र को उच्चारण सिखाने की कोशिश की थी। वह तो सुन नहीं सकते, बिल्कुल ही। अतः उच्चारण की गड़बड़ उनके लिये स्वाभाविक है। वह पाठ बहुत दिन न चल पाया क्योंकि और पाठ ही प्रतिदिन पढ़ना आवश्यक हो गया।

मैं बरामदे में सोया था। ऊषा काल होते-होते ही वह जो शान्त सरयू थी, भीषण हो उठी। उसकी फुंकार भयंकर थी और उसका आकार भी। रात ही रात में बड़ी बाढ़ आई। सोते समय सोचा था गंगाजी में गोता लगायेंगे, अब तो उधर देखकर ऐसा सोचने से भी भय लगता था। स्नानागार में ही स्नान हुए और प्रातः ही पाँच बजे के कुछ बाद हम चल दिये। अगला पड़ाव, कफकोट, वहाँ से 14 मील होता है। रास्ता गंगा के किनारे-किनारे है। गर्म घाटी है। ऊपर से धूप पड़ती है और नीचे से पाँव जला करते हैं। सामने के पहाड़ों पर तरह-तरह के रंग बिरंगे पेड़ हैं। सुन्दर लगते हैं इसमें सन्देह नहीं परन्तु तभी तक जब तक कि रवि का आतप तपाने नहीं लगता। फिर तो भागने की या आँख मूँदकर पड़ जाने की सूझती है।

जब धूप होती है तो टाँगे भी शिथिल होती हैं और तिस पर जब भूख भी होती है तो व्यक्ति अधमरा सा हो जाता है। नरेन्द्र की ठीक यही गति हुई। अभी तक उनको झोले का शौक बाकी था। सो उस दिन की धूप व भूख ने दूर कर दिया। कुलियों ने विशेष रूप से उनको दूध ढूँढ कर पिलाया और तब भी आप आ पाये दोपहर एक बजे जब कि हम लोग 11 बजे से पूर्व ही पहुँच चुके थे। नरेन्द्र के संयम की मैं प्रशंसा करता हूँ। हमारे बिना उन्होंने चाय भी न पी थी। हमने तो रास्ते की दुकान में गोले (नारियल) का भाव तय कर लिया था, इसी आशा में कि नरेन्द्र तो चाय पीयेंगे ही।

उस सारे रास्ते में सरयू साथ रहती है, परन्तु वह कलकल और गर्जना जो पहले पहल अच्छी लगती है बाद को गर्मी के कारण

नीरस रुदन सा ही प्रतीत होती है। पानी भी धूप में चमकता है और आँखों को खाता है। कहाँ वे कुल्लू से मनाली तक व्यास नदी के किनारे-किनारे के 24 मील और कहाँ ये 14 मील। वह तो आज भी स्मरण करने पर आनन्द की हिलोर उठा देते हैं और यह रोमाँच।

आखिर कफकोट के डाक-बंगले की शरण में जा ही पड़े। चारपाइयों पर कुछ तो नींद आई लेकिन क्षुधा अपनी लीला दिखाने लगी।

आजकल विचित्र गति है बाज़ारों की। कहीं-कहीं आटा-चावल मिल जाता है और कहीं वह भी नहीं। भला कच्चा आटा-चावल क्षुधा को खाक शान्त करेगा। मिश्री देखने को नहीं और कई जगह तो गोला भी नहीं। फलमूल का नाम तक नहीं। दूध दुर्लभ ही नहीं अलभ्य है, सर्वत्र चाय का एकछत्र साम्राज्य है। इसी कारण से तो क्षुधा देवी की व्याकुलता सहन किये ही बनती है और कुछ चारा जो नहीं। काम में लगने से क्षुधा भूल ही जाती है, इसलिये कलम उठाई और चन्दन सिंह (अपने एक मित्र) के लिये लिख डाला एक लम्बा चौड़ा पत्र। दो बजे के लगभग दाल चावल का हिसाब सम्पन्न हुआ। मसूर की दाल थी, ऐसी गर्म चलाई में। वह भी तो रंगत दिखाती है।

हाँ! उसी दिन की तो घटना है। कफकोट से हम लोग दो मील की दूरी पर थे। कर्पूरी लाल मेरे साथ थे। सामने से तीन मातायें आ रही थीं। तीसरी की गोदी में एक नग्न बालक था। माता की भी छाती खुली थी। वह ऐसे उसे ले जा रही थी मानो मूक भाषा में प्रगट कर रही हो 'यह मेरे कलेजे का टुकड़ा है, मेरा लाल है, मेरा सर्वस्व।' 'ओ मातृत्व! तेरे सामने मेरा मस्तक नत है और हृदय भी। क्या विशुद्ध प्रीति, कैसा त्याग और कितना अपनापन। इसी सूत्र से ही तो माँ बेटा एक होते हैं। इसी सूत्र के कारण ही तो माँ बालक में निवास करती है और बालक माँ में।' मेरे भाव जगे और मैंने अपने को उस वृहत् मातृ चेतना से युक्त पाया और मैं माँ के कृपामय हस्त-स्पर्श को अपने पर अनुभव करने लगा। और इसी रास्ते में ही तो मैंने एक माता को देखा था। वह युवती थी,

गौरवर्ण और हाथ में दाँतुली लिये कैसे मर्दाने पगों से दो पुरुषों के साथ चली जा रही थी। 'ऐसी ही मातायें वीरप्रसू होती हैं। ऐसी ही मातायें मातृत्व के कर्तव्य का पालन कर जगत् में बलिष्ठ तथा उच्च आत्माओं को प्रवेश कराती हैं। श्रद्धा से, भाव से मेरा हृदय झुक गया था। माँ की झलक तो स्पष्ट वहाँ मिल ही रही थी।

(4)

पथभ्रष्ट

आज से तीन वर्ष पूर्व की घटना है। हम लोग पिण्डारी गिलेशियर देखने जा रहे थे। प्रायः सभी लोग अलग-अलग चल रहे थे। मैं लोहारखेत वाली सड़क पकड़ने के बजाय श्यामाधुरा की सड़क पर पड़ गया था। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड किसी प्रकार के निशान सड़कों पर लगाना – मालूम होता है अपना अपमान समझता है। वहाँ पर धोखे की गुँजाइश थी। दो मील से अधिक चले जाने पर मुझे पता चला था कि मैं गलत रास्ते पर हूँ। एक भाई मुझे जंगल ही जंगल नदी पार करा सड़क पर ले आये थे। लगभग तीन मील का चक्कर तथा चढ़ाई अलग से रही होगी। अब आज हमें कफकोट से श्यामाधुरा ही तो जाना था। पुरानी स्मृति सजग थी और सचेत किये थी।

डिस्ट्रिक्ट बोर्ड ने श्यामाधुरा के लिये एक नई सड़क बनवाई है। पुराना रास्ता तो वर्षा में कतई चलने लायक नहीं रहता। टूट-फूट बहुत हो जाती है। नये रास्ते से लगभग तीन मील का चक्कर होता है। नये रास्ते से ही जाना निश्चित हुआ। प्रातः ही कफकोट से चल दिये। लगभग 5:30 बजे होंगें। हम तीन – कर्पूरी लाल, नरेन्द्र और मैं – आगे-आगे चल रहे थे। नये रास्ते की थोड़ी सी स्मृति थी, पिछली बार के देखने से, परन्तु बातों में उधर नज़र नहीं पड़ी और हम लोग आगे निकल आये। हर जगह रास्ता बताने वाले भी नहीं होते। और कभी होने पर भी बात नहीं बनती। हमारी भी ऐसी ही

गति हुई। एक मील निकल जाने पर सामने से आने वाले पथिकों ने ही बताया कि हम रास्ता छोड़ आये हैं। गोविन्द वल्लभ को भी ज्ञात हो गया था कि हम रास्ता छोड़ आये हैं। अतः एक आदमी हमारे पीछे दौड़ाया गया। वह हमें लौटते में मिला। मैंने इस घटना को बिल्कुल सामान्य करके जाना, परन्तु नरेन्द्र का चित्त व्यथित हुआ, उनको परेशानी सी प्रतीत हो रही थी, परन्तु आने वाली घटना का तो यह श्रीगणेश ही था।

रास्ता चलने में प्रत्येक साथी को स्वतन्त्रता होनी चाहिये, साथ अथवा अलग चलने की, परन्तु जब किसी साथी की गति अति मन्द हो जाये तो वह दूसरों के लिये सदैव अड़चन का कारण होता है। साथ तो साथ रहने से ही निभ पाता है। नरेन्द्र जी के बारे में यह बात अखरती थी, मुझे तो विशेषकर, और इसीलिये भी कि कहीं भूलेंगे तो इनको कठिनाई विशेष होगी, कानों के कारण। वे बहरे थे।

लौट कर ठीक रास्ते पर आये। समय सुहावना हो रहा था। बादल थे और पिछली साँझ की वर्षा ने सभी कुछ हरा-भरा तथा ठण्डा कर रखा था। रास्ता निरन्तर ऊपर ही ऊपर चढ़ता चला जा रहा था। जंगल थे चीड़ के और कहीं-कहीं बाँझ के भी। हरी-हरी घास रास्ते को और भी भला बनाये थी। नीचे बहती हुई सरयू और तट के समीप बसे कफकोट का दृश्य भी बड़ा ही रम्य था। रास्ते में एक दुकान थी और एक दो गाँव भी।

धीरे-धीरे आकाश साफ हुआ। बादलों के स्थान पर सूर्य की प्रखर किरणें आने लगीं। पसीना शरीर पर झलकने लगा, तृषा भी और भूख भी। इसके साथ ही रास्ता तो ऊपर ही ऊपर चलता चला जा रहा था। एक नाले के समीप सड़क पर बैठ कर कुछ खाया और फिर चले। धूप चुभ रही थी। थोड़ी ही दूर पर पर्वत की धार पर बसा एक गाँव मिला। झुपड़ नाम था, पहली ही झोंपड़ी वाले को बुलाया। एक कुली हमारे साथ था और दाल चावल उसके पास थे। खाने-पीने का सामान वहीं पर करने की ठानी। एक पेड़ों के झुण्ड के समीप खुले में चूल्हा लगा और देखते-देखते खिचड़ी उबलने लगी।

ठीक इसी समय उसी गाँव के दूसरे किनारे गोविन्द वल्लभ तथा अन्य साथी खाने-पीने की युक्ति कर रहे थे। वे लोग हमसे आधा घंटा आगे थे। इस बात का पता हमें बाद में लगा। खिचड़ी पकते-पकते बादल घिर आये और खाते-खाते बूँदें पड़ने लगीं। बौछार को साथ लिये ही हमने रास्ता तय करना शुरू कर दिया। एक रोगी को भी रास्ते में देखा। दवाई भिजवाने का आश्वासन देकर आगे बढ़े।

हमें बताया गया कि श्यामाधुरा यहाँ से चार मील है। हमें सीधा चलते जाना होगा। वर्षा का वेग हमारे कदमों के साथ ही साथ उत्तरोत्तर बढ़ने लगा। रास्ते पर गज़ब की फिसलन थी, मगर लट्ठियों का और बुद्धि का सहारा ले, बिना फिसले ही भीगते हुए (छातों के होने पर भी) हम लोग कदम बढ़ाते ही चले गये। रास्ता ठीक पर्वत की धार पर था। बादलों में हम चल रहे थे। ऊँचाई सात हज़ार फीट से अधिक रही होगी।

हम लगभग दो मील चले होंगे जब रास्ते की दुविधा आ पड़ी। एक रास्ता सीधा जा रहा था, वह चौड़ा और चलता प्रतीत होता था। एक सड़क नीचे को बड़ी ढाल लेकर बायीं ओर उतर रही थी। उस झुपड़ वाले सज्जन की उक्ति का आश्रय लेकर हम लोग सीधे रास्ते पर चल दिये। इसकी देनदारी मुझ पर ही थी। वहाँ रास्ता बताने को तो कोई था ही नहीं। पीछे से आने वालों के लिये प्रतीक्षा करनी मुझे नहीं रुची।

इस समय वर्षा ज़ोरों पर थी। चारों ओर बादल थे। दस फुट से अधिक दूरी पर स्पष्ट दीखता भी कुछ न था। सूर्य का कहीं पता न था। घोर जंगल में हम चढ़ते चले जा रहे थे। रास्ता घूमता जा रहा था धीरे-धीरे, परन्तु लगता ऐसे ही था कि हम सीधे ही जा रहे हैं। यह रास्ता भी पर्वतमाला की धार पर जा रहा था। एकदम हमें मील का निशान मिला। उस पर केवल 28 लिखा था। भान हुआ कि हम किसी गलत रास्ते पर हैं। कई प्रकार की तर्कनायें हुईं, उस मील के अर्थ लगाने को और आगे बढ़कर देखने का निश्चय हुआ। वहाँ किसी मनुष्य का तो पता ही न था। चलते-चलते यह रास्ता भी एकदम से बायीं ओर नीचे बड़ी तेज़ी से जाने लगा। बड़ी

विचित्र परिस्थिति थी। यह भी निश्चय नहीं कर पा रहे थे कि हम सचमुच पथ भ्रष्ट ही हैं। कुतुबनुमा की सुई बता रही थी कि हम दक्षिण दिशा में जा रहे हैं। इसी से अनुमान होता था कि गड़बड़ है। सूर्य दीख नहीं रहा था और आस-पास बस्ती के भी लक्षण मौजूद न थे। घोर निर्जन बाँझ का जंगल था। आखिर मुख मोड़े और लौट चले। लगभग आधा मील चलने पर एक भैंस वाले की आवाज़ सुनाई दी। बादलों में वह पहले तो दीखता न था। (उसी ने ठीक रास्ते की सूचना दी) वह रास्ता जो हमने छोड़ा था वही श्यामाधुरा का रास्ता था। जिस रास्ते पर हम पड़ गये थे वह तो था धर्मधर-बेरीनाग का रास्ता।

बड़ी जलन थी नरेन्द्र के मन में। मुझे कोस रहे थे वाणी से भी, मन ही मन भी। मुझे तो यह सारी घटना मनोरंजक सी ही प्रतीत हो रही थी। इस प्रकार की घटनाएँ मुझे सदैव प्रिय रही हैं। रास्ते को स्वयं छोड़कर अपने लिये रास्ता बना कर जंगल में से जाना मुझे अच्छा लगता था और अब भी लगता है। सड़क से मैं गाँव बटिया को अधिक पसन्द करता हूँ। एडवेंचर (साहस) की तो मैं खोज करता था। यहाँ बिन बुलाये ही मिल गई इससे अधिक आनन्दप्रद और क्या हो सकता था? और जब भी मैं इस प्रकार की परिस्थिति में होता हूँ तो शक्ति का नया प्रवाह मुझ में प्रवाहित हो जाता है। आज तक मैंने इस प्रकार की किसी घटना के लिये पश्चात्ताप नहीं किया। यह मेरा स्वभाव ही है। आखिर यदि हमें रात्रि उस घोर जंगल में ही व्यतीत करनी पड़ती तो क्या था? और नये अनुभव होते! और यदि जंगली जानवरों से त्रास होता? नहीं; उससे हम त्रस्त क्यों होने लगे? अभी प्राण देने का समय नहीं आया था और यदि चले जाते तो भी क्या? इस निर्भीकता के बिना, ऐसी निश्चिन्तता के बिना, व्यक्ति ऐसी घटनाओं का मज़ा नहीं ले सकता।

वह कुली जो हमारे साथ था, वह तो बिलकुल अनभिज्ञ था, इस रास्ते से। इसलिये बिलकुल बेकार। ठीक रास्ते पर लुढ़कते हम चले गये। सूर्य भी अपनी किरणों को जल्दी-जल्दी समेटने लगा। एक जगह रास्ता टूटा हुआ था। कीचड़ में लगभग फुट-फुट भर

टाँगे धस गई होंगी, दो स्थानों पर तो। उसमें भी और ही मज़ा था। अन्धकार से काफी पहले हम श्यामाधुरा के डाक-बंगले पर पहुँचे। मातायें तो पुराने, छोटे रास्ते से ही आई थीं और इसी कारण दोपहर को ही पहुँच गई थीं। गोविन्द वल्लभ भी कूद-फाँद करते चार बजे तक वहाँ आ गये थे।

परन्तु यह कहानी यहीं पर समाप्त नहीं होती। कारण – कुलियों का कहीं निशान तक न था। वह डोटियाल भी हमारे जैसे थे, रास्ते से अनभिज्ञ। उस रास्ते की दलदल को वो सहायता के बिना पार कर पायेंगे ऐसे अंधेरे में, इसमें सन्देह था। लालटेन देकर आदमी भेजा गया। रात्रि के 9 बजे तक प्रतीक्षा की परन्तु उनका कहीं पता न था। विभिन्न कल्पनाओं के घोड़े दौड़ाये जाने लगे।

प्रातः हुई परन्तु उनके दर्शन न हुए। 9, 10, 11 और 12 बजे तक भी वे लापता ही थे। लगभग एक बजे वे आ पहुँचे। उन्होंने भी हमारे ही चरणचिन्ह पकड़े थे और धर्मधर तक पहुँचे थे। एक बाबा जी भैरवनाथ भी भटके। दूसरी ओर कफकोट की दिशा में कुलियों से उनकी भेंट हुई थी परन्तु एक दूसरे को शान्ति पूर्वक समझने की चेष्टा नहीं की गई। (वह भैरवनाथ बाबा हमारी पार्टी में शामिल हो गये और कैलाश यात्रा में साथ रहे।) वह दिन रास्ता भूलने का ही था।

श्यामाधुरा में इस तरह एक दिन रुकना पड़ा।

(5)

रामगंगा के उस पार

अब हमें रामगंगा के उस पार जाना था। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की सड़क वाला पुल बह चुका था। 1 जुलाई की वर्षा ने रामगंगा को इतना बढ़ाया था कि उसे तैरना असम्भव था। एक ही तरीका था। झूले के रास्ते जायें। 'एक तार आर-पार बाँधी हुई होती है। उस

पर एक झूला लटकता है, जिसे रस्सों से आदमी आर-पार खींचते हैं। उसी से सामान जाता है, उसीसे आदमी बाँधे जाते हैं। हमारी भी यही गति होगी', क्या करें! लाचार थे।

अगले दिन प्रातः ही चले। बादल तो कमरों के भीतर भी आ रहे थे। थोड़ी ही दूरी पर सड़क छोड़ एक बटिया पकड़ी। जोंकों के दर्शन तो श्यामाधुरा के रास्ते में, जब हम धर्मधर की सड़क पर पड़े थे, तभी हो गये थे। मेरा तो खून भी दो ने पीया था, परन्तु अब तो बात ही कुछ और थी। ऐसा लगता था मानो जोंकों की वर्षा हुई हो। कदम-कदम पर चिपकती थीं और उतारते-उतारते छेद कर डालती थीं। दृष्टि सतत पाँवों पर रखनी अत्यावश्यक थी। छाते भी खुले थे, बूँदाबाँदी के कारण और फिसलने का भय भी पग-पग पर था। इसे ही तो कहा जाता है, सचेत होकर चलना। जंगल में से, खेतों में से, गाँव में से और रपटोली धरती पर से होता हुआ रास्ता पहाड़ की धार पर आता है, जहाँ से नीचे बहती हुई रामगंगा की धवल धार दृष्टिगोचर होती है। तब तो छोटी सी लगती है। 'अजी! हम तो तैर जायेंगे' ऐसे मन सोचने लगता है।

यहाँ से बलखाती हुई बटिया सीधी नीचे ही उतरी चली जाती है। ढाल इतनी है कि पाँव प्रयत्न से ही टिक सकता है। तिस पर जोंकों के झुण्डों के झुण्ड, फिसलन और ऊपर से टपकन, बादलों और पेड़ों के पत्तों की। कई एक साथी रपटे परन्तु चोट किसी के न आई और हम लोग नीचे जा पहुँचे, गंगा के किनारे तिमुलबगढ़ नामक गाँव में। वहीं पर खाने का आयोजन होना था। पार जाने में दो घण्टे लगने तो बहुत न थे। मैं तो सीधा झूले का तमाशा देखने गया। वह तमाशा ही था। झूले वाले तो इतने दक्ष थे कि एक रिंग को कमर में डाल कर मकड़ी की तरह हाथ-पाँव के बल इस पार से उस पार दौड़ते थे। काम चलने लगा। मुसाफिर पार होते थे और उनके बोझे भी। गंगा तो अपने रंग में थी। तैर जाने का तो कोई प्रश्न ही न था।

तिमुलबगढ़ में केले होते हैं। खिचडी बन गई और पार हो जाने की तैयारी हो गई। मातायें तो पहले ही पार हो गई थीं, फिर बोझ

और बोझे वाले कुली। एक डोटियाल का तो उस रास्ते में पाँव फिसला ही। दो ट्रंक टूटे और उसकी टाँग पर भी चोट आई। वे सभी उस पार कर दिये गये।

वास्तव में झूले से पार जाना बड़ा ही आनन्दप्रद है। हमने तो बंधने से इंकार कर दिया था – गोविन्द वल्लभ और मैंने। किसी ने झूला झूला हो तो वह कुछ अनुमान कर सकता है। गंगा पर दृष्टि डालने से ऐसा लगता था कि हम तो गंगा के बहाव के प्रतिकूल बड़े वेग से चले जा रहे हैं। वे कुछ पल तो विचित्र अनुभूति के पल थे। पक्षी हवा में उड़ता हुआ कैसा अनुभव करता होगा। हम उस पार लगे तो मालूम हुआ जैसे पृथ्वी पर आ गये हों। वह स्वप्न सी दुनिया समाप्त हो गई। भय की प्रतीति तो मुझे हुई ही नहीं।

अब हमें फिर सड़क पकड़नी थी। गंगा के किनारे-किनारे बहुत दूर तक जाना कठिन है। कुछ लोग उधर से आते तो थे परन्तु खतरनाक था। कुली न जा सकते थे और ना ही मातायें। अतः ऊपर वाला रास्ता लिया। रामगंगा की घाटी में, दोपहर की धूप में हमने चढ़ना आरम्भ किया और साथ ही साथ पसीना भी बहने लगा। उस तरह के बेढब रास्ते मैंने कम ही देखे हैं। फिर उतराई लगी तो उतरते-उतरते घुटने ढीले होने लगे। उस तरह के पत्थर भी शायद ही किसी रास्ते में होंगे। मैंने तो वैसे पत्थर बनकोटे या शेलागाँव के अतिरिक्त कहीं नहीं देखे। आखिर उसको पार कर हम सड़क पर आ पहुँचे, मानो किसी नदी के ही पार आ लगे हों।

हम लोग 'तेजम' के सामने पुल से ऊपर ही सड़क पर छाया में बैठ कर विश्राम लेने लगे और कुलियों की प्रतीक्षा करने लगे। 'तेजम' जाने का कोई प्रयोजन न था, व्यर्थ में दो मील का चक्कर पड़ता था और चढ़ाई उतराई भी। आगे ही बढ़ने की ठानी। तीन मील की दूरी पर क्वेटी गाँव था। वही हमारा लक्ष्य था।

रास्ता मैदानी था। पर्वतों का आकार बदलता सा दीख रहा था। उनकी काया विशालतर थी और चट्टानें भी काली दीख रही थीं। हम एक नये पर्वत-भाग में प्रविष्ट हो रहे हैं, यह स्पष्ट था। घास ही सामने पर्वत को प्रधानतः ढक रही थी। पेड़ तो प्रतिवाद रूप ही

थे। सन्ध्या-समय ठण्डक थी। यद्यपि थकावट थी, पर पाँव उठते ही जा रहे थे। बादल आये देखते ही देखते। बूँदाबाँदी आरम्भ हुई और थोड़े ही मिनटों में मूसलाधार वर्षा। रास्ता नदी बन गया। पर्वत से मिट्टी वाले पानी की मटमैली वेगवती धारायें बहनें लगीं। सारी भूमि पलभर में जलमयी हो गई। वर्षा का शोर भी विचित्र होता है। नीचे बहती हुई नदी की कलकल कई गुणा हो उठी। ग्वालों ने अपनी-अपनी गैय्या भी घर को लगा दीं। यहीं पर तो हमें दो बालक मिले थे जो हमें देख कर चिल्लाते थे। वे गैय्या घर को ले जा रहे थे। उन्हें भय था कि हम तेज़ चलेंगे तो गैय्या भागेंगी और आगे जहाँ सड़क टूट रही है वहाँ गिर जायेंगी। बालक ही तो ठहरे। ऐसी वर्षा में छाते बेकाम से होते हैं। हम भीगे और भीगते-भीगते क्वेटी गाँव में आश्रय लिया। यही हमारा आज का रात्रि के लिये विश्रान्ति स्थल था।

वर्षा में व्यक्ति को कष्ट तो होता है परन्तु वर्षा का आनन्द भी तो और तरह से नहीं मिलता। घर में बैठ कर बरसता हुआ देखने में भी वह मज़ा नहीं जो वर्षा से पकड़े जाने पर है। हम उन आती हुई धाराओं के और उन धाराओं को ग्रहण करती हुई धारा के अतिनिकट होते हैं। पानी में से होकर चलना आवश्यक होता है और वह कितना शान्त कर देता है। वह तपाक से पड़ती हुई धारा एक गान सा गाती है और उसका स्वर भी पल-पल में बदलता है। मेंढक भी अपना स्वर मिलाते हैं और झरने भी अपना राग छेड़ते हैं। पत्तों पर, पेड़ों पर और घास पर पड़ती हुई धारायें विभिन्न शब्द उत्पन्न करती हैं। प्रकृति का कोरस नूतन जीवन का सन्देश वाहक होता है। पथिक सोचता है 'न बरसे तो अच्छा है।' प्रकृति पुकारती है बादल को 'तू आ और मुझे निहाल कर दे।' मूर्ख पथिक उस पुकार के प्रति, नूतन जीवन की माँग के प्रति, अपने क्षुद्र मोह के कारण बहरा हो जाता है। और बादल भला उसकी क्यों सुनने लगा? वह देना जानता है। उसी में वह आनन्द भी मानता है।

उस मकान को भूकम्प ने दरारों वाला बना रखा था। वहीं पर रात कटी। कुछ खाया-पीया और पड़ रहे। मेघ रात भर अपना काम

करते रहे। सभी कुछ सील रहा था। हमने भी प्रातः जल्दी ही अपना रास्ता लिया। हम अपने गन्तव्य के प्रति बढ़ते चले जा रहे थे।

(6)

गिरगाँव का कुली शेड

तेजम से मुंस्यारी पहुँचने के लिये एक विशाल पर्वत लाँघना पड़ता है। उसकी ऊँचाई नौ हज़ार फीट बताई जाती है। यह कालामुनि का पहाड़ है। पाँच मील की चढ़ाई है और चढ़ाई भी खूब खड़ी।

प्रातः का समय था। वर्षा बन्द हो गई थी। रास्ता नदी के किनारे-किनारे जाता है। ऊँचे-ऊँचे पर्वत हैं और वेगवती ठण्डे पानी की धवल धारायें। प्रकृति का नूतन वैभव था। इस प्रदेश में वृहत् पैमाने पर सभी क्रियायें होती प्रतीत होती थीं। कुछ मीलों तक रास्ता मैदानी था। खेतों में से होकर जाता था और धान की रोपाई के दृश्य मनोरम थे।

उस नदी के पार जाते ही कालामुनि की चढ़ाई आरम्भ होती है। बस, ऊपर चढ़ते ही चले जाना होता है। उस ठण्डे समय में भी, बादलों के बीच चलने पर भी, पसीना चूने लगा था। रास्ते में स्थान-स्थान पर पानी भी है। पत्थरों से लगभग सारा ही रास्ता पटा हुआ है; अतः फिसलन नहीं है। हम जैसे-जैसे ऊपर जाते थे प्रकृति का दृश्य अधिकाधिक विस्तृत होता चला जा रहा था। दृष्टि दूर तक जा सकती थी। वह विशालता जिसकी ओर मैंने पहले निर्देश किया है अधिक स्फुट होती चली जाती थी। वह जल की धवल धारें, मानों पिघली हुई चाँदी ही सर्पवत् ढुलकती चली आ रही हों। और हरियाली के बीच में नीचे नदी का गम्भीर गर्जन सभी मुझे मोहित किये लेते थे। तिस पर ऊपर जाने के साथ ही साथ एक विचित्र शान्ति की अनुभूति हो रही थी। वह शान्ति मेरे भीतर की ही शान्ति न थी वह तो वातावरण की निस्तब्धता थी, जिसको जल-धाराओं

का कोलाहल भी भंग नहीं कर पाता था, अपितु वह उसे परिवर्धित ही करता प्रतीत होता था।

क्वेटी से इधर एक मील पर एक वृहत् जलप्रपात है। खूब फैलकर पानी गिर रहा था। तुरन्त ही मुझमें दक्षिण के कूटलिम जलप्रपातों की स्मृति जागृत हो उठी। यहाँ पानी कम था पर पड़ता उसी प्रकार से था।

पानी में, वर्षा ऋतु में कितना वेग प्रतीत होता है। वह चट्टानों को चूर्ण कर देता है और नदी की गर्जन पर्वतों को और भीरु हृदयों को भी कंपा देता है। वे शुभ्र वेगवती धारायें अपनी विशुद्धता तथा बल के कारण मुझे तो अति प्रिय लगती हैं। मैं भय से कम्पित नहीं होता। मुझमें तो शक्तिमयी चेतना जागृत हो उठती है।

हम लोग जल्दी ही नौ के लगभग क्वेटी पहुँचे। कुली शेड ही हमारा विश्रामस्थल होना था और उसके दरवाज़ों पर ताले थे। वर्षा हो रही थी जब हम वहाँ पहुँचे। खेतों में काम करने वालों से चौकीदार का पता किया। ठीक पता न चला। एक औरत फुर्ती से आई। एक लड़के को खिड़की के भीतर भेजा, रोटियाँ और दही की ठेकी (लकड़ी का बर्तन) निकलवा कर लौट गई। हमने भी उसी रास्ते प्रवेश किया और आराम से बैठ गये।

मैं अल्मोड़े की भाषा समझता हूँ, परन्तु यहाँ उच्चारण इतना भिन्न है कि उनकी बातें समझनी मुश्किल। थोड़ी देर में चौकीदार ने दरवाज़े खोल दिये। कुली लगभग दो घण्टे बाद आ पहुँचे। भेड़े-बकरियाँ भी उसी शेड में कभी रह जाती हैं, ऐसा प्रतीत हुआ, और टपकता तो वह कई स्थलों पर था। यह स्थान, गिरगाँव, काफी ऊँचाई पर है। बादल भीतर भी आ जाते हैं। दोपहर होते-होते हम लोग उस घर में बस गये। आगे न जाने का ही निश्चय हुआ। माताओं ने तो रुकना पसन्द न किया। वे उसी शाम को मुंस्यारी पहुँच गई।

हम लोग भलीभाँति यहाँ पर टिक गये थे। यहाँ शान्ति का साम्राज्य था। इस स्थान की स्थिति ही ऐसी थी। गाँव दूर था। पास ही में कलकल करती जल धारा बहती थी। साथ ही लगे धान के खेत थे जिनके हरियाली भरे तिनके-तिनके से उभड़ता हुआ जीवन और

नूतनता और दूरस्थ पर्वतों की विशालता, उनकी घास की ओढ़नी, कहीं-कहीं देवदारू से गहरे रंग के पेड़ों के झुण्ड और बीच में पानी की सफेद धारायें, काली-काली चट्टानें, सभी मन को मुग्ध किये दे रही थीं। बादल आते और जाते थे। सूर्य की किरणें भी मानो बादलों में स्नान करके आ रही हों। वह कितनी कोमल थीं, कितनी प्रिय थीं। वहाँ जाड़ा था परन्तु देश में गर्मी शायद लोगों को भून सी रही हो। कितना विशाल अन्तर।

उस प्रकृति-सौन्दर्य को लखकर, उस शान्तस्थल में मेरी विचारमाला तो शंकर के चरणों की ओर प्रेरित हो उठी। 'शंकर ही तो वही चेतना है जिसने मुझे शरण दे रखी है, जिसने मुझे अपनाया है। वे ही तो मेरी माँ बन कर आज तक मेरी रक्षा करते और पथ-प्रदर्शन करते रहे हैं, वे ही आज मुझे कैलाश लिये जा रहे हैं। कैलाश उसी चेतना के प्रसार का केन्द्र है। मेरा मस्तक उन्हीं चरणों में नत हैं':

'नमः शिवाय शान्ताय, आदिगुरवे, परमात्मने।
आशुतोषाय, मीदुषे।'

जैसे ही मैं सचेत हुआ एक पहाड़ी गीत की तान मेरे कानों में पड़ी। स्वर स्फुट थे, ध्वनि भी परन्तु शब्द तो समझ न पड़ते थे। उस अवसर में कैसा अनुकूल था वह गाना। ऐसे लगता था कि एक युवती अपने जीवन के उल्लास में, इस प्रकृति की मनोरमता को देख, आपे से बाहर हुई इन ध्वनियों में प्रवाहित हो रही है। कोकिल का अमराई में गान इतना सजीव तथा मधुर नहीं होता। वह धानों की रोपाई कर रही थी। यहाँ तो रोपाई ही होती है और वह बड़ी दक्षता तथा सुन्दरता से की जाती है। धीरे-धीरे वह गान अपनी झाँई में परिवर्तित हुआ और फिर वह झाँई भी लुप्त हो गई। निस्तब्धता और भी घनी हो उठी। कुली शेड के पास वाला झरना तो अपना कलकल गान निरन्तर गा ही रहा था।

परसों श्यामाधुरा आने में रास्ता भूलना कितनी महत्व वाली घटना लगती थी। आज वह अतीत के गर्भ में लुप्त है। आज गिरगाँव ही महत्व रखता है। घटनाओं को तो भूत अथवा भविष्य की पृष्ठ

भूमिका में ही देखना चाहिए, अन्यथा व्यक्ति मापतोल में गड़बड़ कर देता है।

(7)

कालामुनि की चढ़ाई

अभी तो हमने चढ़ाई के दो ही मील किये थे, तीन बाकी थे। अगले दिन सूर्योदय के साथ ही हमने कूच किया। चढ़ाई मज़ेदार थी, खड़ी ऊँचाई होने के कारण भी और सबसे ठण्डा होने के कारण भी। शीतल जल के प्रवाह जगह-जगह पर सड़क को लाँघ रहे थे। रास्ता यह भी पत्थरों से पटा हुआ था, अतः फिसलन तथा कीचड़ नहीं थी।

सूर्य की किरणों ने भूमि का स्पर्श ही किया था कि धुआँ उठने लगा और बादल बन-बन कर व्याप्त होने लगे। कितने आकारों का वे निर्माण करते हैं और फिर उनका विध्वंस, यह बादलों के ताने बाने भी देखते ही बनते हैं। उन्हीं बादलों में हम चलते चले जा रहे थे।

यदि बादलों से ढके पेड़ों को कभी देखा हो तो वह दृश्य भूलेगा नहीं। पेड़ों की धुँधली सी काया दीखती है। ऐसा लगता है मानो स्वप्न जगत् के दृश्य हैं और पल-पल में उस धुँए को गहराई बदलती है – वायु की लहरों से। सुरई का पेड़ देवदारु का सा दीखता है। वही जाति है उसकी भी। पर्वत शिखर के समीप वह कैसा अच्छा लगता है। एक फोटो लेने का यत्न किया गया था परन्तु कैमरा तो सभी कुछ पकड़ नहीं पाता। वह चित्र आज भी मेरी स्मृति पर तो अंकित है ही। कैमरे में नहीं तो न सही।

कालामुनि की जोंकें तो भुलाये नहीं भूलती। यह पर्वत इनके लिये बदनाम है। हमें गिरगाँव से पहले ही सूचना मिल गई थी।

पहले दिन भी गिरगाँव आने में कुछ साथी उनके शिकार हुए थे। वेसलीन से पाँवों को पोता गया। इससे जोंकें पावों पर चढ़ने

से तो न डरती थीं परन्तु छेद न कर पाती थीं। जब तक वे उचित स्थान ढूँढ़ भी न पाती थीं, पकड़ी जाती थीं, परन्तु सारे रास्ते भर यह दौड़ ही रही। हम उन्हें उतार-उतार फेंकते थे और ये चढ़ती चली जाती थीं। कहते हैं एक बाबा जी बड़े दयालु थे। उन्होंने जोंकें उतार फेंकने से इंकार किया। उनके वस्त्र न थे। फलस्वरूप जब तक वे उस प्रदेश में से निकल पाये, उनका सारा शरीर जोंकों से ढक गया।

भैसों वाले उस कालामुनि के जंगल में रहते हैं। वहाँ घास खूब होती है इसीलिये उस चढ़ाई को पार कर दूध तथा छाछ का मिलना स्वाभाविक ही था। मुंस्यारी अभी दूर होती है। एक चढ़ाई अभी बाकी थी।

नरेन्द्र के पाँव में कपड़े का जूता था। जोंकें भीतर घुसीं और भरपेट खून पीया। बड़े-बड़े घाव भी कर दिये। बड़ी कठिनाई से खून बहना बन्द हो पाया।

आखिर चलते-चलते दूसरी चढ़ाई भी कट गई। जोंकों का साम्राज्य समाप्त हुआ। मुंस्यारी तो नीचे में है, पाँच हज़ार से भी कम ऊँचा इलाका होगा। अतः उतरना होता है। मुंस्यारी भोटियों का प्रदेश है। मुंस्यारी में प्रवेश करना एक नई दुनियाँ में प्रवेश करना है। यह अल्मोड़े से 75 मील है, परन्तु विशेष महत्व का स्थान है। आज तक नाम ही सुना था, अब वह इलाका देखने को भी मिलेगा, इस उत्सुकता से कदम बढ़ाते चले गये। 'आधा संसार आधा मुंस्यार' यह भोटियों का कहना है।

पहाड़ में बहुत अधिक चढ़ाई लोगों को खलती है परन्तु मेरे जैसे भी कुछ विरले हैं जिन्हें उतराई कहीं अधिक खलती है।

मुंस्यारी की ऊँचाई इतनी अधिक नहीं जितना ठण्डा है। कारण है बर्फानी इलाकों की समीपता। वहाँ बर्फ भी अधिक पड़ती है। वनस्पति तथा भूमि इस बात की द्योतक है। इतनी ऊँचाई पर, अल्मोड़े के समीपस्थ प्रदेश तो और तरह के ही होते हैं।

चलते-चलते ठीक दोपहर के समय ही हम डाक-बंगले पर पहुँचे। डाक-बंगला बहुत अच्छी जगह पर है। वहाँ के दृश्य सुन्दर

हैं। मुंस्यारी एक गाँव नहीं है। कई गाँव, जिनके नाम अलग हैं, इस इलाके में गिने जाते हैं। सभी मिला कर बड़ी बस्ती हो जाती है। उसने उस विशाल पर्वत के एक पक्ष को घेर रखा है। बिखरी हुई खेती और बिखरे हुए गाँव, अजीब ताश के बिखरे पत्तों से लगते हैं। पाँगर उस जलवायु की विशेषता है। मैंने इतने विशाल पाँगर के पेड़ कहीं नहीं देखे। पाँगर जंगली चेस्टनट होता है। खाने के काम नहीं आता।

सभ्यता से हम दूर चले जा रहे थे। भोटिये लोग बड़े पुरुषार्थी हैं इसमें सन्देह नहीं, परन्तु अलग इतनी दूरी पर रहने के कारण उनकी विचित्रतायें कम नहीं। संगति के प्रभाव स्वरूप जो ब्राह्मण भी वहाँ बसे हैं उसी रंग में रंगे जा रहे हैं।

(8)

बर्फों की ओर

श्यामाधुरा में डोटियाल कुलियों ने इतना बोझ उठाने से इंकार किया था। उनके बोझ कम किये गये। मुंस्यारी से चलने से घण्टा भर पहले एक कुली आकर कहने लगा कि हमारे एक साथी को बुखार आ रहा है, वह चल न सकेगा और हम लोग उसे छोड़ेंगे नहीं। स्पष्ट मतलब था 'हम लोग आगे नहीं जायेंगे। आप कोई प्रबन्ध कर लें।' परन्तु कुली दुकानों पर तो बिकते नहीं। गाँव का मामला था। इतनी जल्दी में कुछ भी प्रबन्ध असम्भव था और डोटियालों के कारण हम अपना प्रोग्राम भी तो गड़बड करना नहीं चाहते थे। उनको दवाई दी गई और उन लोगों को समझाया गया कि यदि ऐसी बात थी तो हमें पहले ही सूचित करना चाहिए था। आखिर उन्हें समझा-बुझा कर इस बात पर राज़ी कर लिया गया कि वे बिना बोझे ही हमारे साथ चलें। उनके बोझे का और प्रबन्ध होगा। यह

सौभाग्य की बात थी क्योंकि डोटियाल ज़रा समझदार थे। आखिर मुंस्यारी से कूच हुआ।

आगे का रास्ता बहुत खराब था। हम लोग बस्ती को पीछे छोड़ कर उन प्रदेशों की ओर बढ़ रहे थे जहाँ की प्रधान-निवासिनी बर्फ ही है। साल का अधिकांश भाग यह प्रदेश बर्फ से ढका रहता और आवागमन के लिये अगम्य होता है। वर्षा ऋतु के कारण एक तो रास्ता स्थान-स्थान से टूट रहा था और दूसरे उतार-चढ़ाव भयंकर थे। खराब रास्ते का यही अभिप्राय था। हमें आगामी पडाव के लिये मुंस्यारी से लगभग 13 मील की दूरी पार करनी थी। वहाँ कोई बस्ती न थी। वह स्थान तो घोर जंगल में है। वहाँ पर रुकना इसलिये आवश्यक होता है कि आगे बस्ती मीलों दूर है और वह भी सड़क के समीप नहीं। वहाँ पर एक वृहत् शिला ने आश्रय का स्थान बना रखा है। उसमें वर्षा तथा आँधी से बचाव हो जाता है। ऐसा स्थान पर्वतीय भाषा में उडियार कहलाता है। उस पड़ाव का नाम बखुडियार है। कहते हैं उससे ऊपर के इलाके में बाघ नहीं होता। वहाँ तो होता ही है। बाघ उडियार का अपभ्रंश है बखुडियार।

मुंस्यारी से नीचे आते ही गौरी गंगा दिखाई देने लगती है। उसकी भयंकर गर्जना से ही उसकी गति तथा प्रमाण का अनुमान किया जा सकता है। वैसे तो दूर से छोटी ही दीखती है। यह गौरी गंगा आगामी 30 मील के लिये हमारी संगिनी है। मार्ग इसके किनारे-किनारे ही जाता है। इसका घोष कानों में अनवरत पड़ता रहता है, रात को और दिन को भी।

खा पीकर चलते-चलते सूर्य प्रखर हो आया था। कुछ दूर तो बस्ती लगती है, खेती-पाती है; परन्तु ज्यों ही यह सिलसिला समाप्त हुआ कि हम घोर जंगल में प्रवेश कर जाते हैं। आरम्भ में कहीं-कहीं घास के मैदान भी हैं; परन्तु बाद में तो घने वृक्षों से पटी हुई भूमि है।

हम लोग लगभग चार मील चले। कर्पूरी लाल और मैं आगे-आगे जा रहे थे। मातायें तो बहुत आगे थीं। बाकी लोग पीछे थे। रास्ते में एक नदी पड़ती थी। सड़क नीचे नदी तक उतरती थी परन्तु वहाँ

पुल न था। नदी वैसे पार करनी असम्भव थी। मैं तो ऊपर लौटा, पार करने के ढंग को समझने के लिये। 'आखिर रास्ता चलता है, कुछ तो प्रबन्ध होगा ही।' कर्पूरी लाल वहीं रुक गये। उस समय धूप से व्याकुल हो रहे थे। पास में छाया थी। मुझे पता लग गया कि नीचे की ओर अस्थायी पुल है। मैं तो उस पुल से पार होकर सड़क पर चढ़ गया और उधर से कर्पूरी लाल को आवाज लगाई। वहाँ तो नदी की गर्जना में इतनी दूर सुनाई पड़ना असम्भव था। इतने में बाकी पार्टी आ पहुँची। वे सामने ही थे। अतः दुर्गा दत्त को कर्पूरी लाल को सूचित करने को कहा और वह ऊपर की ओर चला गया। वे दोनों नदी के किनारे-किनारे ही पुल की ओर बढ़े चले जा रहे थे। एक चट्टान पर से कर्पूरी लाल का पाँव फिसला और पानी में आ रहे। हाथ में झोला, छड़ी और छाता था। अपनी रक्षा की माँग थी कि चट्टान को पकड़ा जाये। झोला और छाता हाथ से छोड़ दिया। आप बच गये। देखते-देखते झोला और छाता नदी के प्रवाह में बह चले। पुल पर जो लोग थे उनको इस घटना का पता ही न था। इनकी आवाज ही न सुनाई पड़ती थी। पकड़ता कौन और फिर कैसे? झट वे आँखों से ओझल हो गये। मुझे ऊपर ही इस घटना की सूचना मिली। कर्पूरी लाल ने भी कहा। उनका हृदय कुछ व्यथित सा था इसमें सन्देह नहीं परन्तु बाहर बनाई हुई वीरता ही प्रकट हो रही थी। लाचारी थी। खोज की गई कि कहीं पत्थरों के नीचे न अटक रहे हों। पर कहाँ? वहाँ जीता जागता आदमी भी होता तो अब तक कहीं का कहीं चला जाता – वे तो प्राणहीन छाता और थैला ही थे। कर्पूरी लाल को अफ़सोस था और मुझे सन्तोष।

कर्पूरी लाल घर से एक मोटी कापी बनाकर लाये थे। उस पर वह डायरी लिखते थे। पर्वत में आने का इनका पहला ही अवसर था। अनुमान किया जा सकता है कि डायरी लिखना कितना परेशानी का कारण रहा होगा। रात को डायरी, दिन में डायरी, चलने में डायरी और बैठे में डायरी। कुछ देखना हो तो डायरी में और बात करनी हो तो डायरी के लिये। डायरी का जादू बुरी तरह इनके सिर

पर सवार था। मैं प्रतीत कर रहा था कि यात्रा का आनन्द तो सारा इनका इस तरह मिट्टी हो जायगा। डायरी भर जायगी भूसे से, परन्तु चुने हुए अनुभवों से नहीं। मुझे तो उसके बह जाने पर सन्तोष था। इसमें सन्देह नहीं कि एक बहुमूल्यवती मेरी पुस्तक भी साथ में ही बह गई। परन्तु वे तो सोचते थे – 'हाँ! इतना कुछ लिख रखा था। सोचा भी था कि पन्ने फाड़कर पोस्ट कर दूँ।' बहे हुए स्वेटर के बदले तो उन्हें दूसरा दे दिया गया। धीरे-धीरे यह घटना उनके मन से उतर गई।

जैसे-जैसे हम आगे बढ़ते थे प्रकृति के वैचित्र्य, विशालता तथा अद्‌भुत सजीवता का परिचय मिलता था। आगे एक विशाल झरना हमें मिला मानो पर्वत की धार से एक नदी ही गौरी गंगा में कूद रही हो। वह श्वेत निर्मल जल, वह वेग और गर्जना! नीचे तो गौरी का गम्भीर घोष था और ऊपर इस जल प्रपात का। उसकी फोटो हमारे पास है परन्तु उससे उसकी विशालता का अनुमान करना कठिन है। झरने रास्ते में अनेक थे। एक दूसरे स्थल पर पर्वत शिखर से पानी गिर रहा था। वह जलप्रपात की ऊँचाई, वे काली-काली चट्टानें जिन पर से पानी गिरता था, तीन बार कूद लेता हुआ, लोट-पोट होता हुआ सड़क को लाँघ कर, गौरी के गौरव में लीन हो रहा था। वह पर्वत वृक्षों तथा घास से खूब पटा था। मन तो उछलता था उस गिरती हुई धार की जड़ पर जाने को। सीकर स्नान तो सड़क से होता है। गिरते हुए पानी पर दृष्टि लगाने से और उस नीचे सरकती हुई सीकर पर आँख जमाने से कैसा लगता है? उसके साथ ही व्यक्ति भी यात्रा करने लगता है। पल भर में समाधि होती है। मैं कहाँ हूँ? यह विस्मृत हो जाता है।

और, नीचे हमारी संगिनी गौरी गंगा चली जा रही थी, नीचे की ओर बेतहाशा दौड़ती हुई, कूदती-फाँदती, फैलती और सिकुड़ती, निज यौवनोल्लास में उछलती हुई। कई रूपों में हमने उसे देखा है, मैदान-स्थल में अपेक्षाकृत शान्त परन्तु विस्तीर्ण काय, तंग स्थलों में गम्भीर और बहुत ही हलचल। कहीं-कहीं तो इतने बड़े जल प्रवाह हैं और उसी कारण से इतना शब्द, मानो बम फट रहे हों। जहाँ

जल प्रपात हैं वहाँ पानी उछलता है और बादल सा बन जाता है। गौरी का सामने वाला किनारा भी खूब सुन्दर है। पत्थर की सख्त चट्टानों पर गौरी की वेगवती धार ने ऐसी रगड़ाई की है कि पॉलिश सी हो गई है। लतायें और पेड़ भी खूब झुके हैं मानो गौरी की वन्दना कर रहे हों।

गौरी आखिर गौरी क्यों कहलाती है? पानी तो गौरवर्ण है ही परन्तु काली नदी जो गर्ब्यांग की ओर से आती है, वह भी तो गौरवर्ण है? जो व्यक्ति काली के साथ-साथ दूर तक गये हैं वह जानते हैं कि काली धीरे-धीरे काली होती जाती है। बर्फानी इलाके में जल के वेग के कारण और निर्मलता के कारण भी जल सफेद दीखता है।

गौरी की महती गर्जना तो मेरे अन्दर उल्लास पैदा करती थी। कितनी शक्ति है इस जल वेग में। गौरी यहाँ पर गगनचुम्बी पर्वतों के बीच बहती है। पर्वत तो मृदु तथा हरित घास से ढके हैं या वनस्पतियों से परन्तु चोटियाँ नंगी हैं और नोकीली – आकाश की ओर इशारा करती हुई बर्फ चोटियों पर से मिट्टी बहा डालता है। नग्न चट्टानें ही रह जाती हैं। गौरी गंगा की गर्जना तो प्रतिध्वनित होती हुई समीपवर्ती पर्वतों को भी गुँजा देती है। उस कम्पन से भी मिट्टी सरकती है। कभी-कभी पत्थर गिरते हैं – ठीक सड़क पर ही आकर गिरते होंगे। सिर को ऊँचा कर, मौन मुद्रा को साध, उन बीहड़ स्थलों में शान्त रूप से बैठकर, उन गगनचुम्बी चोटियों को एक टक देखते रहना, जब कि आकाश गौरी की गम्भीर गर्जना से परिपूरित हो, पर्वत भी उस ध्वनि को प्रतिध्वनित कर रहे हों, कितना आनन्दप्रद है! इन्द्रियाँ शिथिल तथा शान्त हो जाती हैं। मन संकल्प-विकल्प शून्य स्वतः ही हो जाता है। मन से परे चैतन्य में शक्ति का भान होता है। गगनचुम्बी चोटियों के साथ चेतना भी ऊँचे स्तरों में उड़ने लगती है। ऊपर से पत्थर आयें तो भले ही आयें। इस आनन्द को छोड़ते नहीं बनता।

ऐसे सुन्दर और सघन वन भी कहाँ होंगे? तराई भावर के जंगल बीहड़ हैं, परन्तु इतना वैचित्र्य, इतना रंग, इतनी सजीव नूतनता और इतनी जलमयी शीतलता मैंने अन्यत्र कहीं नहीं देखी। हाँ! पिण्डारी

के रास्ते के दृश्यों की स्मृति जागृत हो आती है परन्तु यह स्थल तो उससे कहीं बढ़कर है। प्रकृति के गर्भ में क्या सम्भावनायें छिपी हैं, क्या रंग, क्या ध्वनियाँ, कितनी शीतलता और शक्ति छिपी है, इसका अनुमान कर लेना मानुषी मस्तिष्क से परे की बात है। जल कितना स्वच्छ और शीतल है, व्यक्ति पीने के लिये बार-बार ललचाता है। उस मनोरमता की स्मृति आज भी कितनी प्रिय है।

वृक्षों से ढके हुए रास्ते के समीप ही एक जलप्रपात था। सूर्य की किरणें चोरी-चोरी से पत्तों से होकर उस पर पड़ती थी। मध्याह्न हो चुका था। उस जलप्रपात से उठने वाले सीकर में रवि ने एक इन्द्रधनुष – छोटा सा तान रखा था! उसकी अद्‌भुत लीला ही जो ठहरी।

परन्तु यह वैभव थोड़े ही दिन का है। नवम्बर का महीना आयेगा, गौरी जम जायेगी। नीचे से जल की छोटी सी धारा बहेगी। जलप्रपात भी लुप्त हो जायेंगे। बर्फ घास को जला देगी। वनस्पतियाँ तथा रास्ते, चट्टानें और पर्वतों की तलहटियाँ, सभी पर बर्फ का ऐकान्तिक साम्राज्य होगा। गौरी की गर्जना कपड़े से ढके ढोल की तरह, मन्द-मृदु संगीत का गान करेगी। सभी कुछ – पत्ते व फूल – मृत्यु की मीठी नींद सो जायेंगे और आने वाली वर्षा ऋतु के लिये बहुमूल्य खाद बनेंगे। पक्षी न होंगे और ना ही उनका कलरव, और देखने को मनुष्य भी यहाँ पहुँच न पायेंगे।

इस वैभव का वह दूसरा पक्ष होगा।

(9)

बर्फों के समीप

शाम होते-होते हम लोग बखुड़ियार पहुँचे। धीरे-धीरे सभी वहाँ आ पहुँचे। कोई ज़रा पहले और कोई बाद में। वहाँ मैदान सा है। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड ने हाल ही में एक तीन कमरों वाला मकान बनवाया

है। बँगला नहीं – उसका ठीक वर्णन कुली शेड अथवा घुड़साल है। रात्रि हमें उसी में व्यतीत करनी थी। रास्ता भी इस बात की सूचना देता था कि इसमें रहने वाले कभी ही कोई होते हैं। नीचे ही बर्फ सा ठण्डा पानी बह रहा था। उसका रास्ता बिच्छूघास से पटा पड़ा था। मैंने पानी तक पहुँचने की कोशिश में कई जगह उसकी झलझलाहट मोल ले ली।

पहुँचते ही मैं उस उडियार को देखने के लिये गया। रास्ता बहुत गन्दा था। कठिनाई से उसमें 20–25 व्यक्ति रात काट सकते थे। मैं लौटा ही था कि बूँदाबाँदी आरम्भ हो गई। देखते ही देखते वर्षा होने लगी और उस 'बँगले' के चारों ओर कीचड़ और जल ही जल हो गया। वह 'बँगला' बना तो नया ही था परन्तु बेवकूफी से बनाया गया था। वह छाया हुआ था लेकिन भीतर भी बरसता प्रतीत होता था। और जगहों के अतिरिक्त वह ठीक केन्द्र में भी टपकता था। उसी में जैसे-तैसे रात काटनी थी और रात काटी भी। कमरे में ही बरसाती ओढ़कर लेटने वाली बात तो तभी जान पाया। वहाँ ठण्डा खूब था। मेरे अनुमान से वह स्थान 8000 फीट की ऊँचाई से कम न था। आधी रात तक तो बरसता ही रहा। बाद में सम्भवतः बन्द हुआ। वर्षा में यदि दिक करती है तो कीचड़, सीलन और गन्दगी। उस रात बाहर निकलते ही पाँव कीचड में सनते थे और फिर वही पाँव भीतर भी लाने ही पड़ते थे। कैसी हिचकिचाहट सी होती थी। पर करते क्या? सिर पर पाँव रखकर तो कुछ चला ही नहीं जाता।।

अगले दिन जल्दी-जल्दी खाया पीया और चल दिये। अब रास्ता अधिक तेज़ी से चढ़ता है और उतनी ही तीव्रता से गौरी भी चट्टानों पर कूदती चली आती है। बीच-बीच में छोटे-छोटे मैदान से आते हैं, जहाँ पर ऊँचे-नीचे जाने में भोटिये पड़ाव करते हैं। भेड़ बकरियों की मींगनों के जमाव इस बात के साक्षी है।

हम लोग थोड़ी ही दूर चल पाये थे कि वर्षा ने हमें घेर लिया और आई भी बौछारें। छातों के बावजूद हम भीगने लगे। कपड़े समेटे हुए थे, टाँगें नंगी थीं। ठण्डी हवा जो बौछारों के साथ चल रही थी, शरीर को रोमांचित कर रही थी। पानी में चलना होता था।

लगभग आधे घण्टे बाद वर्षा बूँदाबाँदी में बदल गई परन्तु इस बीच में ही स्थल जलमय हो गया था।

जैसे-जैसे हम ऊपर चढ़ते जाते थे, वनस्पति कम हो रही थी। बड़े पेड़ बहुत कम होते जा रहे थे।

बखुडियार से पाँच मील की दूरी पर एक उडियार है। वहाँ से स्पष्ट प्रतीत होता है कि हम और ही प्रदेश में प्रविष्ट हो रहे हैं। वृक्ष तो बिल्कुल ही नही; पहाड़ों पर घास भी नहीं दीखती। पत्थरों की चट्टानें हैं और छोटे-छोटे पत्थर। कहीं-कहीं पर सख्त मिट्टी है। अजब, उजाड़ सा प्रतीत होने लगता है। पर्वतों के शिखर भी अब नोकीले नहीं, ढहे से हैं। बर्फ की कृपा का यह फल है।

थोड़ी दूर आगे चलने पर पहाड़ के गहरों में और नदी के किनारे पर कहीं-कहीं बर्फ की चट्टानें दीखने लगती हैं। रास्ते में भी बर्फ पड़ती है। बर्फ के ऊपर से जाना पड़ता है, नीचे से पानी बहता है, मानो बर्फ का पुल बना हो। बर्फ पर चलने में 'सोच समझ कर पग धरना' की याद आ जाती है। हमें तो एक जगह एक बर्फानी पानी का नाला पार करना पड़ा। यह भी एक अनुभव है। पानी बर्फ सा ही ठण्डा होता है। साहस से व्यक्ति पाँव पानी में धरता है और फिर दूसरी ओर निकलने की उतावली होती है। टाँगें सुन्न हो जाती हैं, जलने सी लगती हैं। हमें बर्फ थोड़ी सी मिली।

जैसे-जैसे हम बर्फों के समीप पहँचते हैं, वनस्पति बिदा होती जाती हैं। कहीं-कहीं थोड़ी घास है। रास्ते में एक गाँव सा भी था। वहाँ लोग एक बकरे को काटकर उस पर आपरेशन कर रहे थे। शायद वहाँ थोड़ा जौ पैदा होता होगा।

बुर्फु हमारा आगामी पड़ाव था। मुंस्यारी से 25 मील होता है। उसके लगभग दो मील पहुँचने पर तो ऐसे लगता था मानो व्यक्ति खण्डहरों में से चल रहा हो। पर्वत मिट्टी के हैं, उसमें पत्थर मिला है। जैसे मकान के खण्डहर हो जाने पर उसकी दीवारें रह जाती हैं – भग्नावशेष के रूप में। ठीक ऐसे ही वहाँ मिट्टी की दीवारें पहाड़ों पर दीखती थीं। हम लोग लगभग 10,000 फीट की ऊँचाई पर थे। कौन कह सकता है वहाँ कितनी बर्फ पड़ती है।

वायुमण्डल में एक विचित्र निस्तब्धता थी, मृत्यु की सी नीरवता। गौरी नीचे बह रही थी, परन्तु उसमें भी वह स्फूर्ति न थी, वह जीवन न था। क्या पत्थर, क्या चट्टानें और क्या पशु पक्षी – सभी वहाँ अजब दीखते हैं। आँख धोखा खाने लगती हैं। दूरी का अन्दाज़ ही नहीं आता। सभी कुछ समीप ही समीप लगता है। चढ़ाई भी नहीं दिखाई पड़ती और न उतराई।

चलते-चलते हम चार बजे के लगभग बुर्फु गाँव में पहुँचे। वहाँ पर अपर प्राइमरी स्कूल में हमने विश्राम किया। यहीं पर हमको दो दिन और व्यतीत करने थे और आगामी यात्रा के लिये सभी प्रबन्ध भी।

(10)

बुर्फु में मुक़ाम

अल्मोड़े से ही बुर्फु गाँव का परिचय हमें मिल गया था। वहाँ के कुछ सज्जनों से परिचय था। यहीं की एक माता ने तो कहा था – 'बुर्फू में जरूर जाना।' हाँ! वहाँ भी लोग गाँव के नाम का यही उच्चारण करते हैं। ये लोग सभी भोटिये व्यापारी हैं। तिब्बत से ये लोग माल लाते हैं और तिब्बत को सामान ले जाते हैं। भेड़ें पालते हैं, ऊन कातते हैं और साल में एक बार नीचे ज़रा गर्म इलाकों में जाते हैं, जब यहाँ बर्फ पड़ती है। और एक बार तिब्बत जाते हैं, नीचे से लाये सामान के साथ। बस यही इनका जीवन है। इनके घर, कुछ महीने रुकने के स्थान मात्र हैं। प्रायः सभी की आर्थिक स्थिति अच्छी समझी जाती है।

हमारे वहाँ पहुँचने की सूचना हमसे पहले ही वहाँ पहुँच चुकी थी। मेरा परिचय दवाइयों के सिलसिले में वहाँ भेजा गया था और दो दिन जो वहाँ बिताये, लोगों को दवाइयाँ बाँटते ही बीते। लगभग सारा दिन ही इस काम में जाता था। या घर-घर घूमने में रोगियों को देखने के लिये।

भोटिये देखने में लाल होते हैं और उनकी औरतें भी परन्तु भोटिया औरतों में तो कोई विरली ही स्वस्थ होगी। जो कुछ मैंने वहाँ देखा उससे मेरा तो यही अनुमान है। लाल रंग तो वहाँ की ठण्डी हवा के कारण हो जाता है। नीचे से जाने वाले भी लाल हो जाते हैं, तो फिर वहाँ के रहने वाले क्यों न हों? मेरी समझ में तो उनके रोगों का प्रधान कारण है उनका ज्या का अतिशय प्रयोग। ज्या के तसले के तसले भर कर पीये जाते हैं और उसमें घी भी दिल खोल कर डाला जाता है। ज्या तो चाय ही होती है। बस अन्तर इतना है कि उसमें एक वृक्ष की छाल भी डाली जाती है, घी और नमक डाला जाता है और फेंट ली जाती है। चाय बनाने को पीतल के ही बरतन बरते जाते है। फलतः तूतिया बन जाता है, जो विष होने के कारण कई प्रकार के रोगों को उत्पन्न कर देता है। औरतों को खेतों में काम करना नहीं होता। दिन भर ऊन कातना या कपड़ा बिनना होता है।

बुर्फु में खूब जाड़ा था। लगभग पाँच मील उधर से ही तेज़ हवा चलने लगती है। वह बर्फ का सन्देश लिये रहती है, मानो शरीर के आर-पार हो जायेगी। वही हवा बुर्फु में और तेज़ी से चलने लगती है। बुर्फु बड़ा गाँव है, लगभग 100 घर होंगे। हर घर के सामने ही पत्थरों की दीवार से घेरा हुआ खेत है, जिसमें साग-सब्जी पैदा की जाती है, परन्तु इस वर्ष तो वर्षा के अभाव के कारण सभी बाँझ थे।

भोटिये लोग सभी सामान वहाँ जमा कर लेते हैं। उनकी संग्रहशीलता पर आश्चर्य होता है। अब हम भेड़ों के देश में आ गये हैं। यह भोटियों के घरों में जाने से पता चल जाता है। वहाँ भेड़ों के करवचों की दीवारें लगी रहती हैं और वे ऊन के ही बने होते हैं। भेड़ों और बकरियों का माँस उनके आँगनों में सूखा करता है और उसी की गन्ध उनके घरों से आती है। भेड़ों की मींगने जगह-जगह पड़ी होती हैं। उनके बाल भी हर वस्तु में पाये जाने आरम्भ हो जाते हैं।

बुर्फु के पास ही लगभग तीन मील में बुर्फु गिलेशियर है जिससे निकलने वाली नदी बुर्फु के पास ही बहती है। लगभग आठ मील

में नन्दादेवी की चोटी दक्षिण की दिशा में है। मुझे बुर्फु का वह दृश्य आज भी याद है। रात के लगभग दो बजे थे। चाँदनी रात थी। एक ओर नन्दादेवी की चोटी चमचमा रही थी और दूसरी ओर बुर्फु गिलेशियर। सामने उत्तर की ओर दूसरी बर्फ से ढकी चोटी भी चाँदी की चट्टान सी चमकती थी। उस निस्तब्ध निशा में गौरी की गर्जन ही सुनाई पड़ रही थी। विचित्र जादू सा था उस दृश्य में, विचित्र शीतलता और शान्ति।

तैयारी के सिलसिले में खूब सटर-पटर हुई। कइयों की राय ली गई और उनमें आपस में विभिन्नता भी मज़े की थी। मोहन सिंह जांगपागी जी ने खूब दौड़ धूप की। गेहूँ, दलिया, आटा और न जाने क्या-क्या तैयार हुआ। घोड़ों का प्रबन्ध हुआ, किराया ठहराया गया और प्रोग्राम बना। यह निश्चय हुआ कि तीर्थापुरी होते हुए हम लोग कैलाश जायेंगे और मानसरोवर से ज्ञानियाँ मण्डी। वहाँ से सीधे तकलाकोट। जो मानचित्र हमारे साथ थे, उनका खूब निरीक्षण हुआ। 19 जुलाई को हम लोग यथासम्भव जल्दी ही प्रातः कूच कर देंगे, तिब्बत की ओर, मिलम से ऐसा सोच रखा था।

खा पीकर हम लोग 17 को मिलम को जाने वाले थे। वहाँ की प्रथा के अनुसार हमें बिदा किया गया। वहाँ के ढोली लोग (कुछ शिल्पकार) अपना बाजा लेकर नाचते गाते हुए आगे चले। एक स्त्री नाचने वाली थी और गाँव के लोग गाँव के बाहर एक निशान तक हमें छोड़ने आये। हम लोग गाँव वालों के अपने हो गये थे। जो गाँव वाले तिब्बत जाते हैं उनको ऐसे ही बिदा किया जाता है। उस सब में शिष्टाचार था, हृदय न था स्पष्ट ही, और इसमें कोई विस्मय की बात भी नहीं।

हमने मिलम की सड़क पकड़ी और तीव्र वायु का सामना करते हुए कदम बढ़ाने लगे। मिलम पाँच ही मील तो होता है। उस ऊँचाई पर आकाश में तरंगे सूक्ष्म चलती हैं। मस्तिष्क पर प्रभाव भी उनका निराला होता है। संकल्प-विकल्प शान्त हो जाते हैं, परन्तु यह सब नीचे से जाने वालों के लिये ही। वहाँ वालों का तो स्वभाव ही वैसा हो जाता है। वहाँ पर सभी स्थलों पर एक विचित्र निर्जीवता

प्रतीत होती है। गाँव, ठीक मध्यान्ह में भी, सोये से, वीरान से दीखते हैं और प्रकृति तो श्मशान का रूप बनाये ही रहती है। पहाड़ बर्फ से चूणीकृत पत्थर मात्र हैं। और वहाँ पर विडम्बना होती है मज़े की – सामने मिलम दिखाई पड़ता है, शायद एक मील होगा परन्तु चलते-चलते पता चलता है कि वहाँ से तीन मील है।

(11)

मिलम से प्रस्थान

दोपहर को मिलम जा पहुँचे। स्कूल के पास ही नारायण स्वामी जी का तम्बू लगा था। जाकर उनसे भेंट की। वे तो कैलाश-यात्रा के अनुभवी थे। गत वर्ष ही वे होकर आये थे। अपनी समझ के अनुसार उन्होंने भी बातें बतायीं। वे कई दिनों से हमारी प्रतीक्षा में थे। उस दिन वे मूर्तिमान माधुर्य थे, उस मिश्री से भी मीठे जो उन्होंने हमें भेंट की।

स्कूल में डेरा किया गया। पानी की अजब परेशानी थी। नदी का ही पानी था और उसमें खड़िया सी घुली रहती थी। रखने पर ज़रा अच्छा हो जाता था, परन्तु आँख मूँदकर ही अच्छी तरह पिया जा सकता था।

मिलम बहुत बड़ा गाँव है। बुर्फु से पाँच गुना होगा। यहाँ उतना ठण्डा न था जितना बुर्फु में यद्यपि यह स्थान उससे अधिक ऊँचा है। कारण? हवा कम चलती है – पहाड़ की आड़ में होने से। पहले तो दिल उछलता था कि मिलम गिलेशियर को देखें परन्तु अन्त में यही निश्चय हुआ कि आगे बहुत बड़े गिलेशियर देखने को मिलेंगे ही, व्यर्थ के प्रयास में क्या रखा है? दूसरे दिन तम्बू तानकर अखण्ड जाप करने का निश्चय हुआ। अखण्ड जाप हुआ। पूर्ति में नारायण स्वामी ने भी भाग लिया।

भोटिये लोग कई मिले परन्तु उनका हमसे कोई स्वार्थ सिद्ध न होता था, अतः बातें बहुत बनीं, प्रयोजन कुछ न था। प्रबन्ध हमारा हो ही चुका था।

हम लोग सभी दूसरे दिन की प्रतीक्षा में थे। धुरों की कल्पनायें हमारे मस्तिष्कों में घूम रही थीं। यही तो अग्नि परीक्षा है जिससे यहाँ के निवासी भोटिये भी घबरा जाते हैं। सोचा था, दस बजे तक घोड़े आ जायेंगे परन्तु प्रातः ही सूचना आई कि घोड़े कारणवशात् देरी से आयेंगे। हम खा पीकर बाँधाबूँधी करके तैयार थे। दृष्टि और मन बुर्फु की सड़क पर थे। एक बजे घोड़े आये। सामान लदना आरम्भ हुआ। दो बजे हम लोग चलने को तैयार थे। वह 19 जुलाई का दिन था।

हमारे पास दो सवारी के घोड़े थे और सात सामान के। तीन तम्बू लिये गये थे। गर्म कपड़ों को शरीर पर लादा गया। प्रभु का चिन्तन करते हुए मिलम से चले। वहाँ के 2-3 वयोवृद्ध सज्जन हमें कुछ दूरी तक पहुँचाने आये। धूप खूब तेज़ी पर थी। वे लोग हमारे लिये मंगल-कामनायें करते हुए लौटे। हम लोग आगे बढ़ने लगे, धुरों की ओर।

तीसरे दर्जे में मैंने हवा और सूर्य की कहानी पढ़ी थी। ठीक वही घटना आँखों के सामने घटने लगी। एक ओर तो हवा थी और दूसरी ओर दोपहर का सूर्य। उन ऊँचाइयों पर सूर्य की किरणें ठण्डी नहीं हो जाती, अपितु मानो वे अधिक नोकीली हो जाती हैं। धूप खूब चुभती है और उस 12,000 फीट की ऊँचाई पर भी पसीना आ जाता है। सूर्य ही की विजय हुई – थोड़ी देरी के लिये। लादे हुए गर्म कपड़े उतारे जाने लगे। सिर का टोपा उतरा और स्वेटर भी उतरा। कोट वालों ने उन्हें उतार कर कन्धों पर धर लिया।

जिस प्रदेश में से हम चल रहे थे, वह तो पत्थर के पहाड़ हैं और पत्थर नीचे सरकते हैं, ज़रा से इशारे से। नीचे नदी बहती है। मैं उसे 'ऊँट की बेटी' कहता हूँ क्योंकि धुरे के इधर का सभी पानी उसी में तो आता है। पत्थरों पर धूप और भी व्याकुल करती है। रास्ते में एक स्थल पर बर्फ की चट्टान ने नदी के मार्ग को

ढक रखा था। पानी नीचे से होकर आता था। बर्फ भी तो मिट्टी सी हो रही थी। गन्दी थी, साफ न थी।

एक के बाद दूसरा पड़ाव आने लगा। उनके नाम तो आज विस्मृति के गर्भ में लीन हुए जा रहे हैं परन्तु इतना कहना आवश्यक है कि पड़ाव के योग्य स्थान-मात्र हैं और वहाँ कुछ नहीं। पड़ाव नाम मात्र होता है। यदि कहीं तम्बू लगा हो तो भले ही हो। और वे पड़ाव मील-मील और कभी इससे अधिक भी ऊपर नीचे फैले रहते हैं। भेड़-बकरियों वाले ऊपर नीचे कहीं बैठ जाते हैं। दो ही बातों से प्रायः पड़ाव बनता है, घास और पानी। कहीं-कहीं तो घास भी नहीं होती।

हमारा विचार दुंग में रात्रि व्यतीत करने का था। दुंग मिलम से आठ मील ही होता है। बहुत न था और चढ़ाई भी बहुत खड़ी न थी। उसके दो मील इधर शमगाँव का पड़ाव है। मेरे अनुमान से लगभग दो मील भूमि को यह नाम दिया जाता है। शमगाँव में घास है और वहाँ पर पड़ाव भी प्रायः मिट्टी के हैं। एक टूटी सी धर्मशाला भी बनी है।

हम शमगाँव से मील भर ही इधर होंगे जब द्वन्द्व युद्ध में वायु का पक्ष प्रबल हुआ। हवा चली और बादल उठने लगे। बस धुआँ सा था और उसने देखते-देखते आकाश को आच्छादित कर दिया। बूँदें गिरने लगीं। उस धूप को देख कर, बहुत से साथियों ने अपने छाते घोड़ों पर रख दिये थे जिनकी अब उनको आवश्यकता प्रतीत हो रही थी। परन्तु घोड़े तो हम से लगभग मील भर पीछे थे। किसी ने अपना कम्बल ओढ़ा और किसी ने चादर। वर्षा तेज़ हो गई और हवा भी। हम लोग लगभग 13,000 फीट पर थे। 4.30 बजे साँझ का समय होगा। शीत का ऐसा अनुभव आज तक न हुआ था; न बुर्फु में और न बुर्फु के रास्ते में। दस्तानों और जुराबों की उपयोगिता प्रतीत हुई।

मैं तो बर्फ की सोचने लगा कि अब बर्फ गिरती है और नूतन दृश्य मिलते हैं। दूसरा विचार जो मन में उठता था, वह आने वाले कल का था। क्या धुरों पर बर्फ पड़ जायेगी? यदि ऐसा होगा तो

हम कल पार न जा सकेंगे। उन ऊँचाइयों पर कैसा होता है – इससे मैं परिचित था, परन्तु पूर्णरूपेण नहीं।

वर्षा में भीगते-भीगते हम लोग शमगाँव पहुँचे। मातायें तो धर्मशाला में घुस गईं और हम ने अभी-अभी लगाये जाने वाले एक भोटिये के तम्बू में आश्रय लिया। सोच रहे थे वर्षा बन्द होगी तो आगे चलेंगे। अन्यथा यहीं रह जायेंगे।

वर्षा रुक सी गई। मैं बाहर निकला। बादल विचित्र दृश्यों की रचना कर रहे थे। सामने एक चोटी को जो हिमाच्छादित थी घेरते चले जा रहे थे। केवल मात्र शिखर ही उन बादलों के धुँए में दीख रहा था। कैसा रम्य था वह दृश्य, परन्तु था वह क्षणिक ही। कैमरा उस ओर किया और एक्सपोज़र दिया। अब आकर पता चला कि वह निष्फल गया।

वर्षा रुक रही थी। हम लोग आगे चल दिये। थोड़ी ही दूर जाने पर वर्षा फिर आ गई। आगे ही जाना था। लौटने का प्रश्न ही न था। लगभग एक मील पर एक बर्फानी नाला सड़क को लाँघता था। 15 फीट के लगभग चौड़ाई रही होगी। वेग भी था ही। ठण्डक वैसी ही थी और पानी तो तरल बर्फ ही समझिये। उसमें से निकलने में टाँगों की वह दशा हुई जो पहले न हुई थी। हम लोग 14,000 के लगभग की ऊँचाई पर थे।

वर्षा ने और ज़ोर पकड़ा तो एक टूटी हुई धर्मशाला में पुनः आश्रय ग्रहण किया। यह दुंग में ही थी परन्तु तम्बू लगाने को ठीक जगह आगे थी। फिर सरके और आगे पहुँचे। तम्बू लगे थे भोटियों के। भीगते-भीगते हमने दो तम्बुओं में सिर छिपाया।

वहाँ से आधा मील नीचे नदी के ठीक किनारे पर विशाल उडियार भी है – ऐसा पता चला। उसमें हमारी सारी पार्टी समा सकती थी। वहाँ डेरा करने में लाभ यह था कि प्रातः हम जल्दी ही जाने को तैयार हो सकते थे। तम्बू भी भीगने से बच जाते। प्रातः बाँधने न पड़ते और गीली भूमि से भी हम लोग बच सकते थे। यहाँ मुझे बता देना चाहिये कि हमारी पार्टी में वृद्धि हुई थी। एक तो नारायण स्वामी, जिनके बारे में मैं आगे ही लिख आया हूँ, दूसरे थे बाबा

भैरव नाथ। ये बड़े उदार हृदय, तथा प्रसन्नचित्त व्यक्ति थे। थे ये कुष्ट से पीड़ित। तीसरे थे जीवन सिंह – बुर्फु के भोटिया। वे हमारे पथप्रदर्शक तथा दुभाषिया थे। उनके बिना हमारा काम चलना असम्भव था। भैरव नाथ तथा जीवन सिंह की हमारे साथ खूब पटी। भैरव नाथ तो उमर भर न भूलेंगे; निश्चित ही। घोड़े वाले तो थे ही, परन्तु केवल दो रात के साथी।

वर्षा बन्द होने का नाम न लेती थी। कभी कम और कभी अधिक, पर रही अनवरत ही मध्य रात्रि तक। चाँद की मन्द छटा उस निर्जन में कहीं-कहीं विच्छिन्न होते हुए बादलों के धुँए में, और नीचे गरजती हई नदी पर पड़ती हुई पत्थरों पर, चट्टानों पर चमकती हुई एक विभिन्न लोक की कल्पना जागृत करती थी।

उडियार में भेड़ों की मींगने जमी थीं। छः इंच की परत तो अवश्य रही होगी और उनकी गन्ध का मापतोल तो कुछ है ही नहीं। कुछ सफाई की गई, मन को सन्तुष्ट करने अथवा भुलाने के लिये। दरी बिछाई और बिस्तर लगाये। खाना बनाने का दम माताओं में न था। वे भीग रही थीं और जाड़े से कड़कड़ा रही थीं। थोड़ा दलिया पकाया गया और साथ में कुछ और मसाला चला। रात भर का सामान हो गया।

वह हमारी इस प्रकार की पहली रात्रि थी। यद्यपि हम तम्बू में न थे परन्तु मकान में भी न थे। थोड़ा सा कीर्तन हुआ और फिर रामायण का पारायण हुआ। मासपारायण के हिसाब से एक दिन का पाठ पढ़ा गया। अधिकतर कर्पूरी लाल ने ही यह कार्य किया। मन्सूबे होने लगे कि एक पारायण तो पूरा होगा ही परन्तु कौन जानता था कि **'विधना ने कछु और रचि राखी।'** वही अन्तिम पारायण भी था। उस दिन सोने को 10.30 से ऊपर हो गया था।

मुझे तो सोते समय तक यह पता न था कि कल चलना होगा कि नहीं। वहीं उडियार में एक भोटिया भी था जो पार जाने वाला था। हमारा आदर्श वही था। वह चलेगा तो हम भी, वह रुकेगा तो हम भी। रात भर वह नदी ठण्डी हवा के झोंके भेजती रही, कम्बलों के भीतर तक वे घुसते थे और नींद को भुला देते थे।

जल्दी जगने का तो प्रश्न ही न रहा था। सोने वाले जगते हैं, जगने वाले तो जगे ही रहते हैं।

धुरे पार करने के लिये जितनी जल्दी चला जाये, अच्छा होता है, किन्तु यह ज्ञान तो हमें अब प्राप्त हुआ, कीमत देने के बाद। घोड़े वाले अपनी जिम्मेदारी को कम समझते थे और हमारे पथप्रदर्शक अपने आप कुछ कर सकने के साहस से शून्य थे। अपनी स्वतन्त्र सूझ प्रायः उनके कुछ काम भी न आती थी और न हमारे ही। उनमें छोटेपन की घोर मनोग्रन्थि थी। अस्तु, चलते-चलते हमें सात बज गये और घोड़े वालों को आठ। यह भारी भूल थी।

(12)

वह अलौकिक भूमि

ऊँटाधुरा! जयन्ती! कुँगरी बिंगरी! ये शब्द रह-रह कर मन में गूँज रहे थे। कितनी चढ़ाई होगी? सुना था – विष लगता है। न जाने हमारी कैसी गति हो, ऐसे संकल्प-विकल्प बहुतों के मन में आ रहे थे और समय-समय पर वाणी द्वारा भी प्रकट हो जाते थे। हम लोग तो बहुत ही सुस्त रहे। भेड़ों वाले तो चार बजे से चल रहे थे। एक दिन में ही तीनों धुरों को पार करना अच्छा होता है। बीच में पड़ाव हो तो सकता है, परन्तु वह सुरक्षित नहीं। बर्फ का सदैव भय रहता है और पड़ जाने पर दुर्गति होनी अनिवार्य है। साथ ही लकड़ी लेकर चलना आवश्यक हो जाता है। एक ही दिन में तीन धुरे पार करना था। कुल फासला, लोग तो कहते हैं, 15 मील होता है परन्तु मेरे अनुमान से तो 18 से कम न होगा। धुरों की ऊँचाई? 18,200 फीट से सभी ऊँचे हैं। जयन्ती तो 18,500 है समुद्र तट से। सचमुच यह अग्नि परीक्षा थी। धुरे पार हो गये तो यात्रा की सफलता निश्चित है। इन धुरों में भोटियों और हूणियों (तिब्बत निवासी) की अनेक भेड़ें मर जाती हैं। इन्हीं धुरों में कई

यात्री भी प्राण खो देते हैं। किसी प्रकार की सहायता की, सिर छिपाने के स्थान की, कोई आशा नहीं। बर्फ पड़े, आँधी हो या तूफान और किसी प्रकार का भी कष्ट हो, सभी सहना होगा। कहते हैं – लोग इन धुरों में हृदयहीन हो जाते हैं। अपने बीमार, चलने के अयोग्य, साथियों को छोड़ कर चल देते हैं। ज्यों ही बीमार ने आँखें मूँदी कि लम्बा हुआ। चीलें आँखें निकाल ले जाती हैं। वहाँ तो आप स्वयं पार जाना दूभर होता है, साथ ले जाना तो असम्भव ही समझें। सवारी ही एक मात्र आश्रय हो सकती है, वह भी यदि पहले से हो तो, अन्यथा साथ रखी हुई दवाई।

हम ऐसी परीक्षा के लिये आगे बढ़े थे। वह दिन आयु भर भूलने का नहीं।

भेड़ें रास्ते पर चल रही थीं। भेड़ें बहकती भी जल्दी हैं। डरपोक जो होती हैं। इसलिये आगे बढ़ना मुश्किल होता है। कर्पूरी लाल तथा गोविन्द वल्लभ को सवारी के लिये छोड़कर हम लोगों ने पुल पार किया। 'ऊँटे की बेटी' को पीछे छोड़ हमने चढ़ना आरम्भ किया। अभी धुरा तो दूर था। दो चढ़ाइयाँ लेने के उपरान्त ही धुरे की निजी चढ़ाई आरम्भ होती है।

यहाँ से बर्फ के अलौकिक दृश्य दीखने लगते हैं। दक्षिण में चमचमाती हुई नन्दादेवी की चोटी दीखी और कुछ ही मिनटों में बादलों ने आँखों से ओझल कर दी। हमारा मुख पश्चिम की ओर था। सामने बर्फ से ढकी चोटियाँ थी। नीचे गिलेशियर था। पहले तो दूरी के कारण यह सब छोटा सा लगता था परन्तु जैसे ही हम आगे बढ़ते चले दृश्य विस्तृत होता चला गया और समीप पहुँचते-पहुँचते वृहत् विशालता को धारण कर गया। बादलों के टुकड़े उठने लगे और बर्फों पर अपने आसन जमाने लगे। नववधू के मुँह को जैसे घूँघट छिपाये रहता है, वैसे ही वह उस अस्पष्ट धवलता को छिपाते जा रहे थे। वह गिलेशियर भी अपने विस्तार का परिचय देने लगा। उस प्रातःकाल के समय में, जब रवि का आतप अभी चोटियों पर चमचमा रहा था और इस पर्वत की ढाल पर जहाँ हम चल रहे थे, छाया ही थी, भेड़ों की कतारों की कतारें चल रही थीं और बीच

में थे भोटिये, सीटी देते उन्हें हाँकते चले जाते। सामने की ओर वे हिमाच्छादित चोटियाँ, बाँयें को पर्वत की सीधी खड़ी ऊँची दीवारें – बहुत ऊँची, और चट्टानें थीं मानो जैन मन्दिरों की चोटियाँ हों। पत्थर लालिमा लिये पीतवर्ण था। वह दृश्य कैसा मनोहर था। यहाँ पर कैमरे ने अच्छा कार्य किया।

उन ऊँचाइयों पर नीचे, गहराई की ओर देखने में भय नहीं लगता। मेरा तो अपना यही अनुभव था। भेड़ें ही वहाँ रास्ता बनाती हैं पत्थरों के पहाड़ पर। पत्थर छोटे सरकने वाले थे। छः इंच के रास्ते पर हम चल रहे थे। नीचे तेज़ ढाल थी, सैंकड़ों फीट की। पत्थर सरक रहे थे परन्तु नीचे देखने में किंचित् भी भय न लगता था। हमने लगभग 15,000 फीट की ऊँचाई पर पुल पार किया होगा।

बर्फ की चोटियों को बाँये हाथ छोड़कर हम इस ऊँचाई के बाद एक घाटी में उतरते हैं। दायीं ओर ऊँचे खड़े पहाड़ों की दीवार है। सभी स्थान पत्थरों और चट्टानों से सटे हैं। बायीं ओर एक गिलेशियर है जिसकी लम्बाई और चौड़ाई का ठीक अनुमान कर सकना असम्भव है। आँखें तो वहाँ धोखा देती हैं। मील भर को फर्लांग भर ही दिखाती हैं और उसके पार जो दूसरी ओर के पहाड़ थे, उन पर बर्फ के विस्तृत प्रसार थे, पथों पर और चोटियों पर भी। उन पर बाल-रवि की किरणें सभी चाँदी से भी चमकीली और सफेद दीखती थीं।

बहुत ही मुश्किल आ पड़ने पर इसी गिलेशियर के किनारे पड़ाव भी किया जाता है। इस वर्ष जानवरों का बहुत नुकसान हुआ। न जाने हमने रास्ते में कितनी मरी हुई भेड़ों के अस्थिपंजर देखे होंगे। वहाँ इतनी दुर्गन्ध पैदा नहीं होती। पत्थर ही सारी भूमि को ढके हुए थे वहाँ पर, और दूर से देखने पर वह भी बहुत सुन्दर लगते हैं। अजब बात थी।

इस घाटी के दूसरे किनारे पर एक चढ़ाई लगती है। अभी तक मातायें हमारे आगे थीं। किसी को कोई कष्ट न था। अब हम सभी ने इकट्ठे ही इस चढ़ाई को चढ़ना शुरू किया। हम एक पंकवाहिनी नदी के किनारे आ पहुँचे। सचमुच पानी कीचड़ था। नदी ऐसे क्षेत्र

में से बहती थी जिसकी मिट्टी काली थी और ढीली। यहाँ पर पत्थर का एक पुल था। इसे पार कर ऊँटा की ओर जाना होता है। यहीं पर विश्राम करने और पीछे वालों के लिये प्रतीक्षा करने की ठहरी।

उस चढ़ाई पर चढ़ते ही मुझ पर एक विचित्र मस्ती का आवेग छा गया। गला खुला और मैं गाने लगा कीर्तन के पद। वहाँ उस ऊँचाई पर, उस विशुद्ध सूक्ष्म वातावरण में, उन विचित्र चमचमाते हुए बर्फों के दृश्यों में, न जाने क्या जादू भरा था। भीतर एक विचित्र लहर दौड़ रही थी। हृदय गुनगुनाता था और आपे से बाहर होता जाता था। आवाज उस वायुमण्डल में गूँजती थी और अधिक ज़ोर से चिल्लाने को मन होता था।

उनको बैठा छोड़कर मैं उसी चढ़ाई की धार पर, उनकी आँखों से दूर, पर्वत की दीवार के चरणों की ओर बढ़ता गया। यह स्थान ऊँचा था। यहाँ से सारी घाटी का दृश्य अपनी वैभवपूर्ण विशालता में आँखों के सामने आता था। पश्चिमी ओर की हिमाच्छादित चोटियाँ और उनके चरणों में लोटते हुए गिलेशियर, बादलों से आँख मिचौनी खेलते हुए दीखते थे। इस घाटी का गिलेशियर भी अपनी पूर्ण काया को खोले हुए दीख रहा था। सामने की बर्फों और चोटियों के दृश्य भी पग-पग पर और पल-पल में नूतन आभा वाले होते जा रहे थे। इधर भी बादल के टुकड़े उठने लग गये थे। वैसे तो सूर्य चमक रहा था। 17,000 फीट की ऊँचाई रही होगी। कितना पवित्र तथा निस्तब्ध था वायुमण्डल और कितना अलौकिक वह दृश्य जो सामने के मन्दिराकार लाल शिखरों को भी दिखा रहा था। यदि ऐसे समय में कोई मत्त हो जाये, अपने को भूलकर पागल की तरह चिल्लाने लगे तो क्या विस्मय। मैंने एक दाक्षिणात्य सज्जन को पागलपन की मस्ती में भावभरे गीत, भाव से कम्पित होकर ही गाते हुए नहीं चिल्लाते हुए देखा है। मेरी भी वैसी ही गति थी। मैं चिल्लाता था और अपने पूरे ज़ोर से। मेरा तो सारा शरीर, मानो रोम-रोम नृत्य कर रहा था। पर्वत की दीवार से चिल्लाहट प्रतिध्वनित होती थी। मैं उसके प्रति चिल्लाता था। उस अद्‌भुत लीला में लीलामय राम

ही तो अनुस्यूत हो रहा था। आज मैं जानता हूँ – पागलपन कैसा होता है और पागल कैसा अनुभव करता है।

मेरा गला बैठा और वह आवेग शान्त हुआ। शरीर भी शिथिल हो गया। मैं बाकी लोगों के समीप आ गया। आगे बढ़ने का निश्चय हुआ।

मस्ती कम थी परन्तु थोड़ा खुमार सा बाकी था। हम आगे बढ़े।

(13)

ऊँटा, जयन्ती और कुँगरी बिंगरी

मील भर से अधिक रास्ता मैदानी था। चढ़ाई आरम्भ होने से ठीक पूर्व एक छोटी सी पहाड़ी नदी मिली। यहीं पर कुछ खा पीकर धुरों से लोहा लेने का निश्चय हुआ। थोड़ी देर में घोड़ों वाले सवार भी आ पहुँचे। मेवा पास में था, वह खाया गया। पानी पिया और सभी साथ-साथ चढ़ाई चढ़ने लगे।

हमारे साथ जो छः मातायें थीं उनकी लीडर थी हरूली, जिन्हें हम दीदी कहा करते हैं। वे पहले तीन बार कैलाश यात्रा कर चुकी थीं। उन्हीं की दूसरी साथिन थीं तुलसा। अन्य चारों के नाम थे – खष्टी, पार्वती, मालती और तुलसा। इन दूसरी तुलसा को 'गांगुली की माँ' कहकर पुकारा जाता है। सभी की आयु 40 तथा 50 के बीच में रही होगी। पार्वती तथा मालती ही ऐसी थी जिन्होंने कैलाश-यात्रा न कर रखी थी।

नरेन्द्र में शिथिलता आ रही थी और कर्पूरी लाल का मस्तक पीड़ा कर रहा था। दोनों ही घोड़ों पर सवार कर दिये गये। दीदी प्रातः से ही शिथिलता की शिकायत कर रही थीं। दुर्गा दत्त भी मस्तक पकड़ कर जगह-जगह बैठता था। स्वामी जी अच्छे थे और गोविन्द वल्लभ भी। सभी लोग साथ-साथ चल रहे थे। धुरों में यह अनिवार्य सा हो जाता है।

साँस फूलना तो धुरे से उधर वाली चढ़ाई में ही शुरू हो जाता है। हवा का दबाव इन ऊँचाइयों पर विशेष कम हो जाता है इसलिये फेफड़ों को अधिक काम करना आवश्यक होता है। इसी कम हुए दबाव का प्रभाव, रक्तवाहिनी नाड़ियों तथा हृदय पर भी पड़ता है। फलतः सिर चकराता है और पीड़ा भी होने लगती है। इसी के फलस्वरूप जी मिचलाने की भी शिकायत कइयों को होती है और टाँगे भी फूलती हैं।

इतनी ऊँचाई पर एक एक कदम उठाना मुश्किल हो जाता है, विशेषकर जब तबियत बिगड़ने लगे (सभी को तो उतनी शिकायत नहीं होती। कई तो बिल्कुल ही प्रतीत नहीं करते; केवल साँस फूलना अनुभव में आता है)। यहाँ तो इस परिवार में से कई ढीले होने आरम्भ हो गये थे। जहाँ से धुरा दिखाई देता है वहाँ से माताओं, विशेष कर पार्वती, को कष्ट होने लगा, परन्तु फिर भी लड़खड़ाते हुए सभी आगे बढ़ने लगे। प्रोत्साहित करने का काम मेरा ही था। कभी-कभी मुझे भय भी दिखाना पड़ता था। इस सब पर भी मज़ाक यह कि धुरा सामने ही दीखता है। बस, 2-3, फर्लांग होगा परन्तु जितना आगे बढ़े उतना ही और दूर दिखाई देने लगता है।

आखिर धुरे पर पहुँच ही गये और वहाँ थोड़ा विश्राम किया। सिवाय स्वामी जी के और घुड़सवारों के बाकी सब साथ थे। यहाँ से नीचे तेज़ उतराई लगती है। हम लोग तेज़ी से उतरते चले गये। रास्ते में बर्फ भी थी। यह एक दूसरी घाटी थी। नीचे गहरे में पानी के तालाब चमक रहे थे और पहाड़ों की छातियों पर हिम। पानी के नाम से काला कीचड़ बह रहा था। हम लोग लगभग 1,000 फीट नीचे उतर आये होंगे। बस इतना ही हमें उतरना था। यहाँ से फिर दूसरे धुरे के लिये चढ़ाई आरम्भ होती है। यहाँ पर हम रुके। बैठते ही 'गांगुली की माता' लेटी और अकड़ गईं। आँखों से आँसू बहने लगे और हाथ पाँव ठण्डे हुए जा रहे थे। मातायें परेशान हो गईं। मालती की आँखों में आँसू भर आये और उसके जीवन में निराशा हो गई।

नौशादर तथा चूना सुंघाया परन्तु चेतना न आई। नाड़ी मन्द हुई जा रही थी। इतने में नरेन्द्र भी आ पहुँचे। वह चन्द्रोदय और ब्राण्डी निकालने लगे परन्तु गले से नीचे उतरे तो कुछ बने भी। यहाँ गहरी बेहोशी थी। जब स्पिरिट व अमोनिया सुंघाने से भी कुछ न हुआ तो मैंने मुँह में अमोनिया वाली बोतल उलटी। उसके थोड़ा भीतर जाते, चेतना लौटी फिर ब्राण्डी और चन्द्रोदय दिये गये। इससे पूर्व पानी की आवश्यकता पड़ने पर हमने वही कीचड़ उसके मुँह में डाला। कोई चारा जो न था। इस सारी घटना ने 15 मिनट ले लिये होंगे।

पानी वहाँ से लगभग 200 कदम की दूरी पर चढ़ाई में था। वहाँ पर कुछ खाने-पीने का तय किया था। रोगिणी को घोड़े पर लाद कर, बाँह पकड़ कर वहाँ तक पहुँचाया गया। उस स्थान को गंग पानी कहते हैं। इस घटना का मानसिक प्रभाव भी प्रायः सभी पर पड़ा। सभी लोग वहाँ जाकर चित्त हो गये। स्फूर्ति थी तो गोविन्द वल्लभ में, मुझमें और थोड़ी स्वामी जी में। कहते हैं धुरों में खटाई अच्छी होती है। इसलिये नींबू का आचार काफी मात्रा में सभी को खिलाया गया। हम लोगों ने तो कुछ अल्पहार किया भी परन्तु और किसी को रुचि न थी। लेटना चाहते थे और हो सके तो वहीं पड़े रहना। परन्तु इससे काम कैसे चल सकता था। यहीं पर हमें एक बज चुका था। अभी दो धुरे बाकी थे। सभी को हाँक दिया गया।

जयन्ती तीनों में सबसे ऊँचा है, अतः अपने नाम को सार्थक करता है। इसकी ऊँचाई 18,500 फीट आँकी गई है परन्तु चढ़ाई खड़ी नहीं है। चलते ही स्वामी जी की तबियत खराब हुई। वमन हुआ और अंग शिथिल पड़ गये। कर्पूर-रस का प्रयोग किया। मितली तथा सिर घुमार की शिकायत प्रायः सबको थी। गांगुली की माँ और कर्पूरी लाल घोड़े पर थे। जैसे कोई बहुत शराब पीकर लड़खड़ता है, बाकी सब इसी तरह लड़खड़ाते चले जा रहे थे। समय-समय पर मैं अमोनिया सुंघाता, कर्पूर-रस खिलाता, प्रोत्साहन देता, हाँकता सा चला जा रहा था। बार-बार बैठने की प्रवृत्ति होती थी लोगों की और उससे चलना और भी कठिन हो जाता था। प्रायः सभी अधमरे

से हो रहे थे। किसी तरह से जयन्ती पार हो गया परन्तु स्वामी जी दूर पीछे रह गये थे, देखने में भी न आते थे।

जयन्ती के बाद रास्ता बड़ी तेज़ी से दूर तक उतरता ही चला जाता है। कुछ देर आराम करके हम लोग आगे बढ़े। मैं नीचे आकर स्वामी जी की प्रतीक्षा में रुक गया। बहुत प्रतीक्षा के उपरान्त भी जब वह न आये तो मैं आगे चला। जीवन सिंह को उनके लिये रुकने का आदेश किया।

स्वामी जी तो उस दिन आ ही न पाये। नजगाँव में भोटियों के अतिथि बने।

रास्ता थोड़ी दूर मैदान है। बर्फ भी लाँघनी पड़ती है। फिर लगती है कुँगरी बिंगरी की खड़ी चढ़ाई। गोविन्द वल्लभ कमर पर हाथ रखे, लाठी के सहारे, आगे चले जा रहे थे। प्रायः सभी की अवस्था दयनीय थी। पार्वती तो बिलकुल ही निष्प्राण हुई जा रही थी। एक घोड़ा भी बेकाम हो गया था। वह थक गया और उसे अपना आप भी ले जाना दूभर हो गया। सन्ध्या होने को थी जब हमने चढ़ाई आरम्भ की। 1.30 बजे होंगे। धुरों को चार बजे तक पार कर लेना ही सुरक्षित होता है। अन्यथा तूफान, वर्षा और बर्फ का भय रहता है। पार्वती को बाँह पकड़ कर ले जाना आवश्यक हो गया। बाकी भी गिर पड़ रहे थे। बाबा भैरव नाथ भी वैसे ही थे। बादलों का धुआँ लगना आरम्भ हुआ और ठण्डी हवा! उस चढ़ाई में भी हाथ पाँव जमने लगे। उस समय की याद कर अब भी विस्मय होता है कि हम लोग कैसे पार हो गये। बादलों से अधिक कुछ भी न हुआ। अन्यथा शायद ही कोई विरला पड़ती हुई बर्फ में उसे पार कर पाता। 6.30 पर हम लोग ऊपर पहुँच गये। बादल थे, सूर्य दीखता न था और अन्धकार बढ़ रहा था। हमें, अभी लोगों की गणना के अनुसार, तीन मील जाना बाकी था जो वास्तव में पाँच से कम न था, परन्तु थी उतराई। इतनी शिथिलता में तो पाँव उठाना भी मुश्किल होता है। कुँगरी बिंगरी की टेढ़ी-मेढ़ी चढ़ाई ने बची हुई शक्ति का भी अपहरण कर लिया था।

रास्ता बेढब था। मिट्टी सरकती थी। हम लोग तीन मील आये होंगे कि अन्धकार हो गया। गति मन्द थी। सभी को साथ लेकर चलना ज़रूरी था।

गोविन्द वल्लभ ने दूरदर्शिता से काम लिया और लैम्प देकर जीवन सिंह को हमारे लिये छोड़ दिया था। यदि लक्ष्य दिखाई पड़ जाये तो हृदय को आश्वासन मिल जाता है और टाँगों में भी नया प्राण प्रवाहित होने लगता है परन्तु यह तो अन्तिम क्षण तक न हुआ। हमें छिरछिन जाना था। घोड़े आगे चले गये थे। हम लैम्प जलाकर चलने लगे। टार्च भी थी। वर्षा होने लगी। छाते तो किसी के पास थे नहीं। धुरों में अपना आप नहीं उठाया जाता, छाता कौन उठाता? हवा तेज़ चल रही थी। ठण्ड से शरीर अकड़ रहा था। रास्ते में पत्थर ही पत्थर थे। हवा का झोंका आया और लैम्प बुझ गई। फिर से लैम्प जलाई गई, काफी कठिनाई से, और फिर चले। हर 30-40 कदम पर रोगिनी पार्वती को विश्राम देने के लिये रुकना पड़ता था और वह बेचारी लाठी पर ही सिर रखकर, चार श्वास लेकर, आगे बढ़ती थी। उसकी बाँह पकड़ रखनी आवश्यक थी।

सभी पहुँचने को उतावले हो रहे थे। जीवन सिंह से पूछा जाता 'कितनी दूर है'? वह कभी कुछ कहता कभी कुछ। वहाँ सड़क तो थी ही नहीं। रास्ते के चिन्ह भी अदृश्य थे। जीवन सिंह के बताये फासले से हम दुगना चल चुके होंगे। कर्पूरी लाल तथा अन्य लोगों के मन में सन्देह दौड़ने लगा कि हम रास्ता ही न भूल गये हों। जीवन सिंह को जली-कटी कही जाने लगी। मैं यह तमाशा देख रहा था। फिर हवा का झोंका आया और लालटेन बुझ गई।

अब टार्च से ही काम लेते हुए आगे बढ़े। थोड़ी देर में एक भोटिये कुत्ते की भौंकने की आवाज कान में पड़ी। हम पहुँच गये।

आशा थी लगे हुए तम्बू मिलेंगे। शायद जलती हुई आग भी हो, परन्तु गोविन्द वल्लभ हमसे डेढ़ घण्टा ही पहले पहुँचे थे। हवा में बत्ती टिकती ही न थी। अंधेरे में एक पाल में सामान रख कर बैठे थे। हमने भी जाकर उसी में सिर छिपाया।

यह था उस पहले दिन का वैचित्र्य-पूर्ण अनुभव। फिर भी उन अलौकिक विभूतियों को देखने के लिये, उन हिमाच्छादित विशालताओं और पवित्र वातावरण में कुछ घण्टे बिताने के लिये यदि इतना मूल्य देना पड़े तो मेरे हिसाब में तो अधिक नहीं। वह आजीवन एक स्मृति है। वह चैतन्य जिसका भान वहाँ एक बार हो आता है, इस मूल्य पर भी मिले तो सस्ता है।

(14)

तिब्बत में प्रवेश

भारत तथा तिब्बत की सीमा निश्चित नहीं है। तिब्बत वाले तो मिलम तक अपनी ही सीमा बताते हैं और अँग्रेज़ घाटों के दूसरी ओर छिरछिन से भी आगे सुमनाथ तक अपनी ही सीमा कहते हैं। वहाँ पर सीमा का निश्चय कोई विशेष महत्व रखता ही नहीं। वह अमानव भूमि है जिस पर वस्तुतः अधिकार किसी का भी नहीं।

हम लोग छिरछिन में तो आ पहुँचे थे, परन्तु वह तिब्बत के अन्य पड़ावों की तरह पड़ाव ही था। निर्जन स्थल था। बस, पास में एक भेड़ों वाले भोटिये का तम्बू था। वह तो तीनों घाटों को पार कर अपनी भेड़ों सहित चार बजे ही आ पहुँचा था और हम पौने नौ पर वहाँ पहुँच पाये थे, उस दुर्गति में। भेड़ों को घेर, वह तो तम्बू में पड़ रहा था।

बड़ी मुश्किल से दूसरा तम्बू भी लगाया गया। लालटेन को जला कर हवा की आड़ में रखा जिससे वह बुझने से बची रहे। आग को लकड़ी न थी और न ही जलाने के लिये हिम्मत। पानी की तृषा थी, परन्तु हिलने को दम न था। बेचारा जीवन सिंह ही थोड़ा पानी लाया। जैसे-तैसे बिस्तर लगाये और टेढ़े हो गये। खाने की उस अवस्था में कल्पना भी न हो सकती थी। वहाँ पर असीम जाड़ा था। नीचे से भी ठण्ड, ऊपर से भी ठण्ड और अगल-बगल से भी ठण्ड

ही घुसी जाती थी। ओढ़ने को काफी था फिर भी रात तो करवटें बदलते बीती। टाँगे ठण्डी थीं। दोहरे होकर भी देखा परन्तु विशेष लाभ न हुआ। वह हमारी तम्बू में पहली रात्रि थी और तिब्बत की भूमि पर भी पहली ही। 19,000 फीट से कम क्या ऊँचाई होगी, उस स्थान की। वर्षा में भीगे हुए हम पहले ही थे। हवा तो रात भर गजब की रही। तम्बू भी तो एक ओर से खुले थे।

प्रातः हुई, उजाला हुआ। ज़रा सूर्य की किरणें आई तो बिस्तर छोड़ा। पता चला कि हम नई ही सृष्टि में आ गये हैं। रात तो उस अन्धकार में सूझा ही कुछ न था। पानी खोजा। उसे तो छूने मात्र से हाथ अकड़ते थे; अभी-अभी स्थान का विचार तो दूर, लगभग सारा कैम्प ही मरीजों का था। दुर्गा दत्त बीमार था, भैरवनाथ भी वैसे ही थे। मातायें भी ढीली ही थीं। दो तो उठने तक का नाम न लेती थीं। कर्पूरी लाल भी अच्छे न थे। लगभग 9 बजे स्वामी जी भी आ पहुँचे। वे भी अस्वस्थ थे। अजब मामला था। 'सारे का सारा कुनबा बिगड़ा', वाला किस्सा था। दवाइयों का सिलसिला चला। आवश्यकतानुसार, दवाइयाँ दी गई और खाने की चिन्ता हुई।

मुझे तो सबसे अधिक प्रभावित करती है जीवन सिंह की दृढ़ता। वह भी बुखार से पीड़ित था। भोटिये शराब पीकर घाटे पार करते हैं। परन्तु बेचारा हमारे चक्कर में था। लकड़ी लाया और उसके बाद हमारे लिये चंवरों के प्रबन्ध के लिये दिन भर घूमा। मीलों ही घूमा होगा। प्रातः उसे खाना जल्दी ही खिला दिया गया था। मोटी-मोटी रोटियाँ सेंकी गईं। 12-14 आदमियों का खाना बनाना खेल न था। दीदी ही रसोई में गईं और खाना बनाते-बनाते ही उनका सिर पीड़ा करने लगा।

दिन में तीसरा तम्बू जो डबल प्लाई टेण्ट था, लगाया गया। वह बड़ा आराम वाला घर था, हवा को रोक सकता था। हम उसमें बैठे हुए थे। सायं पाँच बजे के लगभग जीवन सिंह ने आकर सूचना दी कि चंवरों के लिये जो पहले प्रबन्ध किया गया था, वह सब बेकाम है। उस चंवर वाले का कुछ पता नहीं। हमारी विचित्र परिस्थिति थी। न जाने हमें वहाँ कितने दिन पड़े रहना पड़े। बिना चंवरों के

हम आगे कैसे चल सकते थे? तिब्बत में सामान के लिये तो चंवर ही बरते जाते हैं और प्रायः सवारी के लिये भी।

कुछ भोटिये भी वहाँ पर आ रहे थे। पता चला कि मिलम के कल्याण सिंह वहाँ से लगभग तीन मील की दूरी पर हैं। गोविन्द वल्लभ का उनसे परिचय था। आशा थी कि वह प्रभावशाली व्यक्ति होने के कारण सम्भव है कुछ प्रबन्ध कर दें। पत्र लिखा गया, परन्तु मैंने और दूसरे लोगों ने भी यही अच्छा समझा कि जीवन सिंह को साथ लेकर मैं स्वयं जाऊँ। मैं तैयार हुआ और चल दिया। रात्रि मुझे वहीं व्यतीत करनी थी।

जैसे ही हमने नदी की घाटी को पार किया और सामने के पर्वत पर पहुँचे, सूर्य अस्त हुआ चाहता था। उस समय चारों ओर बहुत सुन्दर दृश्य हो रहे थे। उन पहाड़ों पर घास का तो नाम नहीं; परन्तु मिट्टी रंग-बिरंगी है। अस्त होते हुए सूर्य के प्रकाश में वह विचित्र शोभा लिये थी। ऐसा लगता था मानो भिन्न-भिन्न रंग की घास ही हो। कहीं-कहीं गहरे में जहाँ पानी है, वहाँ थोड़ी घास भी उग आती है। वहीं पड़ाव भी भेड़ों वाले कर लेते हैं। सभी ऐसे स्थलों के नाम हैं। उन पहाड़ों में गोदन्ती के हड़ताल तथा धातु के गोले से मिलते हैं। मुझे जीवन सिंह ने कुछ एक दिखाए भी। अंधेरा होते-होते हम तोपक पहुँचे और कल्याण सिंह की दूकान ढूँढ़ ली। वहाँ दुकानें भी तम्बुओं में होती हैं। मुझे वहाँ छोड़ जीवन सिंह अपने परिचित वालों के तम्बू में रात्रि बिताने के लिये चला गया।

थोड़ी ही देर में कल्याण सिंह आ गये। मैंने पत्र दिया और परिस्थिति खोल कर सामने रख दी। भोटिये प्रायः सज्जन होते हैं परन्तु कल्याण सिंह जैसे, दूसरे की सहायता करने वाले, विरले ही होंगे। मैं तो कह कर ही चला था कि मेरा जाना अमोघ होगा। मैं स्वयं वहाँ पहुँचा था, यह बात भी कल्याण सिंह पर विशेष ज़ोर डाल रही थी। तिब्बती लोग वहाँ पर ऊन बेचने को भेड़ें लाते हैं। उसके बदले में अनाज तथा कपड़ा ले जाते हैं। कल्याण सिंह ने तो उमर भर उन लोगों की आढ़त कर रखी थी। अतः उनका प्रभाव था। निश्चय हो गया कि जैसे भी हो कल हम सामान सहित तोपकू

आ जायेंगे फिर आगे के लिये प्रबन्ध होगा। तोपकू में तो बहुत से लोग बस रहे थे। छिरछिन में पड़े रहकर प्रबन्ध होना असम्भव था।

वे घोड़े वाले जो हमें मिलम से लाये थे, वे बेचारे मुसीबत में थे। उस दिन उनको भी धुरा लगा। छिरछिन पहुँचते-पहुँचते इतने थक गये कि घोड़े बाँधने की भी सुध न रही। घोड़े भाग गये और तीसरे दिन कहीं बहुत दौड़-धूप के बाद मिले।

कल्याण सिंह ने अपने हूणिये (तिब्बती) मित्रों को बुलाया और परिस्थिति उनके सामने रखी। वे लोग सहर्ष सहायता के लिये तैयार थे। उन्होंने घोड़े जंगल में छोड़े हुए थे। उन्होंने हमें वचन दिया कि हम सूर्योदय से पूर्व ही घोड़ों की खोज में जायेंगे और जल्दी ही उन्हें छिरछिन पहुँचा देगें जिससे हम लोग सामान सहित तोपकू आ सकें।

तिब्बती भाषा सुनने का वह मेरा पहला अवसर था। कुछ भी समझ में न आता था। मुश्किल से दो एक शब्द पकड़ पाया। रात वहीं पर व्यतीत की और प्रातः ही एक झिबू (चंवर तथा बैल के बीच का एक जानवर) और दो आदमी सामान लाने के लिये लेकर छिरछिन आया। सूर्योदय का दृश्य रास्ते में देखने ही योग्य था। कितना रम्य था।

जाकर जल्दी से सामान बंधवा, उनको बिदा ही कर पाये थे कि इतने में घोड़े भी आ पहुँचे। वे भी लाद दिये गये। एक घोड़ा फालतू था। मेरे मन में सवारी का शौक कूदा और मैं उस पर सवार हो गया। उन घोड़ों की स्फूर्ति तथा बल सर्वथा प्रशंसनीय है। देखने में तो दुर्बल से थे परन्तु प्राण उनमें प्रबल था। थोड़े में ही सवारी का मज़ा आ गया।

तोपकू पहुँचते-पहुँचते 12 बज रहे थे और तम्बू लगाते एक बज गया। खाते-पीते तीन से अधिक हो गये थे। सूक्ष्म सा ही खाना हो पाया। नरेन्द्र की भी तबीयत खराब हो गई। कर्पूरी लाल तो बुखार तथा आँव से पीड़ित थे ही। दुर्गा दत्त भी बीमार ही था। मातायें तो वैसी ही थीं। तोपकू ज़रा गर्म स्थान है। उस गर्मी ने कुछ जान डाली।

दूसरे दिन प्रातः हम (गोविन्द वल्लभ और मैं), नदी से लौटते हुए सोच रहे थे कि कैसे प्रबन्ध हो। कल्याण सिंह को लेकर एक चंवरों वाले के पास स्वयं जाने का विचार था। वह बात हो भी न पाई थी कि 9 बजे के लगभग 7-8 चंवर नदी पार से आते दिखाई दिये। आशा जागृत हो गई। थोड़ी ही देर में कल्याण सिंह उस चंवरों वाले को साथ लेकर हमारे घर में (तम्बू में) आ पहुँचे। भाव ठहराने में कई दाँव कल्याण सिंह ने चले। तिब्बती लोग तो यात्रियों को लूट ही लें। बस चले तो माँस और हड्डियाँ भी न छोड़ें। परन्तु भोटिये व्यापारियों के सामने वे भी पालतू बिल्ली से बन जाते हैं। उन्होंने उन्हें साध रखा है। 50/- रुपये प्रति चंवर से आरम्भ होकर 23/- रुपये प्रति चंवर पर तय हुआ। चंवरो वाले हूणिये का नाम था तोपगे। वह तीर्थापुरी के समीपस्थ मिस्सर स्थान का रहने वाला था। वह गृहस्थी था। गृहस्थी को खम्बा कहा जाता है। अगले दिन प्रातः चलने का निश्चय हुआ। वह हमें तीर्थापुरी, कैलाश तथा मान सरोवर होता हुआ ज्ञानिमा मण्डी पहुँचा देगा। फैसला होने पर ऐसा लगा मानो एक और घाटा हमने पार कर लिया हो। बीमार भी इस बीच कुछ अच्छे होने लगे थे। नरेन्द्र वैसे ही थे। कर्पूरी लाल भी बिलकुल ठीक न थे। पार्वती कमज़ोर थी और गांगुली की माँ भी, परन्तु उनको और कोई कष्ट न था। सूखे शाक के रस ने सभी के जिगर को उत्तेजित कर दिया था।

(15)

तीर्थापुरी की ओर

अगले दिन प्रातः सात बजे तक हम लोग तैयार हो पाये। लदते-लदाते और देरी लगी। लगभग 8.30 बजे हमने तोपकू का पड़ाव छोड़ दिया। हृदय में उल्लास था। होता भी क्यों न! हमारी यात्रा में यह एक बहुत बड़ा महत्वपूर्ण कदम था जिसे हम उठा रहे थे।

तोपगे ने तीर्थापुरी जाने के लिये एक कम चलता हुआ रास्ता ढूँढ़ा। तिब्बत में डाकुओं का सतत भय रहता है और चलते हुए रास्तों में ही उन्हें अधिक शिकार हाथ लगता है। अतः वे उधर ही रमते हैं। हम लोग ठाजंग न गये। तोपकू जिस नदी के किनारे है उसके इस पार ही पहाड़ों पर से धुआँसाम्बा की ओर चल दिये। इस रास्ते में चढ़ाव-उतार भी कम होते हैं।

चंवर बेढब जानवर है। तिब्बत में रास्ते तो होते नहीं परन्तु यदि कहीं हों भी तो चंवर कभी उस पर चलेगा नहीं। एक के पीछे दूसरा – ऐसे चलने का इसका स्वभाव नहीं। बराबर में चलेगा और कोशिश करता है अन्य चंवरों के बीच में घुसने की। यदि कहीं दूसरी पंक्ति में पड़ जाये तो पहाड़ पर सीधा चढ़ जाता है। बाल भालू से दीखते हैं और बल बहुत होता है। दो मन बोझा बिना तकलीफ के ले चलता है। है पूरा जगंली ही। नाक में नकेल रहती है किन्तु उसका भी इशारा कम समझता है। अपनी मर्जी ही करता है। आदमी से भागता है। ऊपर चढ़े आदमी को गिराने में भी चुस्त है। कोई विरला ही सवारी करने वाला इस अनुभव से बचा होगा। पहचानता है तो अपने स्वामी के चाबुक को और थोड़ा उसकी आवाज को। 'छयूः'-'छयूः करके तिब्बती उसे हाँकते हैं।

थोड़ी ही दूर चल पाये थे कि चंवर ने नरेन्द्र को पीठ पर से सरका दिया। एक दूसरे चंवर ने बोझा गिराया और भाग निकला। सारी की सारी यात्रा में मैं चंवरों के स्वामी तोपगे के धैर्य को देखकर चकित था। चंवरों का ले चलना बड़ा बेढब काम है, परन्तु वह तो खूब सिद्धहस्त था, उन्हें लादने में और हाँकने में। सामान के बारे में उसने शिकायत न की और न कभी कुछ छोड़ा ही। सभी कुछ स्वयं कर लिया करता था। मेरी उससे खूब मज़े की पटने लगी।

तिब्बत में खड़ी पहाड़ियाँ बहुत ही कम हैं। सामान्य भूमि की ऊँचाई लगभग 15,000 फीट होगी। उस पर जो पहाड़ हैं उनकी ढलान बहुत कम है परन्तु हैं वे बहुत लम्बी ढाले – मीलों की – अतः ऊँचाई काफी पहुँच जाती है। बिल्कुल वीरान ही है वह भूमि। एक कंटीली झाड़ी बहुतायत से होती है। इसी झाड़ी को लकड़ी के

काम में लाते हैं। गीली ही वह जल जाती है। वे चाय के छाँटे हुए पेड़ों सी दीखती हैं दूर से। कहीं-कहीं तो यह भी नहीं। धूली उड़ती है चलने में, और उसमें छोटे-छोटे पत्थर भी होते है। पर्वत शिखरों पर चट्टानें दीखती हैं। उस वीरान के अकंटक वासी हैं चूहे जिनके बिल दिखाई पड़ते थे। न जाने उनका गुजर कैसे होता होगा? हिमाच्छादित पर्वतमाला को, जिसे हम लाँघकर आये थे, दक्षिण में पीछे छोड़ते जा रहे थे। वे छोटी और छोटी दीख रही थीं। हमारे बाँयीं ओर भी बर्फ वाली कुछ चोटियाँ थीं। आकाश निर्मल था दोपहर तक। दूर सामने तिब्बत के पहाड़ों पर धूप छाँह दिखाई पड़ रही थी। प्रसिद्ध लाल पर्वत भी सामने दीखता था। तिब्बत में भूमि की विषमता बहुत कम है। मैदान तो मैदान है ही परन्तु पहाड़ की ढालें भी मैदान ही लगती हैं देखने में। चलने में तो उतने से ही टाँगे फूलती हैं।

तिब्बत भूमि के नये-नये दर्शन थे। नूतनता में रोचकता होती ही है। दृष्टि दूर तक जा सकती थी। मैदान का सा अनुभव होता था। मैदानों वाले तो ऐसे दृश्यों को खूब पसन्द करते हैं। परन्तु उस भूमि में पहले दिन भी निर्जीवता स्पष्ट ही प्रतीत होती थी। वनस्पति का अभाव, जल का अभाव और प्राणियों का नितान्त अभाव, पक्षी तक भी तो देखने में न आते थे। इसमें सन्देह नहीं कि वातावरण में विचित्र निस्तब्धता थी। मानसिक हलचल स्वतः ही कम होती थी। वहाँ हलचल होती है वायुमण्डल में। 9 बजे के उपरान्त ज़ोर की हवा चलती है हवा ठण्डी होती है। चमड़ी को फाड़ देती है। नाक मुँह की तो गत ही बिगाड़ देती है। इसके कारण काफी कष्ट होता है।

पहले दिन ही वर्षा का भी थोड़ा अनुभव हुआ। बादल आते ही हाथ ठण्डे होने लगते हैं। बूँदों के साथ चलने वाली हवा तो बर्फ का स्पर्श लिये रहती है। परन्तु बूँदा-बाँदी होकर ही वर्षा रह गई। धूप तिब्बत में भी कडाके की लगती है। गर्म कपड़े उतारने को चित्त होता है परन्तु पसीना तो आता ही नहीं।

शाम होने से पहले ही हम उसी नदी की घाटी में फिर उतरे। दिन भर पानी के लिये तरसे थे। आकर नदी में जल पिया। किनारे

पर निर्मल जल की धारा बह रही थी। नदी का पानी तो मैला था। हमारे तम्बू लगाते-लगाते नदी बढ़ी और सभी पानी एक सा हो गया।

हवा परेशान कर देती है तिब्बत में। तम्बू लगाने में परेशानी, रोटी बनाने में परेशानी और रास्ता चलने में परेशानी! रात को और सुबह-सुबह हवा ज़रा शान्त रहती है।

हम लोग धुँआसाम्बा पहुँच गये थे। हमने उत्तर दिशा में 11 मील का सफर किया होगा। धुँआसाम्बा का अर्थ होता है 'पत्थर का पुल।' वहाँ पर कोई पुल न था। पुल अभी एक मील और नीचे था। हमारा रास्ता यहीं से ज़रा पूर्व को घूम जाता था। अगले दिन प्रातः हमें नदी पार करनी थी।

(16)

तिब्बत के मैदान

'देखने में छोटी परन्तु गुणों में खोटी' यही तिब्बत की बर्फानी नदियों का ठीक वर्णन मालूम पड़ता है। ऊँचे किनारे पर से वह नदी बहुत चौड़ी न दीखती थी परन्तु वहाँ से न तो चंवर जा पाते और न आदमी ही। अतः हम लोग ऊपर की ओर गये जहाँ नदी अनेक धाराओं में विभाजित थी। पानी की ठण्डक दुःखदायी थी। टाँगे बिल्कुल सुन्न हो जाती थीं। एक धार को पार कर दूसरी में घुसने के लिये हिम्मत चाहिये थी और हिम्मत किये बिना काम बनता भी न था। हम लोग सभी पार हो गये। वेग काफी था, परन्तु बहाने लायक न था। पानी तो पीने के योग्य था ही नहीं।

चंवर में एक और विशेषता है। प्रायः वह अकेला नहीं चलता। नदी के उस पार से एक आदमी को लाना हो तो दो चंवर चाहिये। एक साथी और एक सवारी के लिये। इस कारण भी काफी परेशानी रही। नरेन्द्र ने चंवर पर ही पार किया।

नदी के दूसरे पार पर्वत की धार पर रास्ता था। हमने चक्कर लेने के बजाय सीधा ही ऊपर चढ़ जाने की ठानी। वह चढ़ाई जितनी दिखती थी उससे कई गुणा अधिक थी। चढ़ते-चढ़ते होश ठिकाने आ गये। चंवर तो पीछे थे ही। ज़रा सुस्ताये। अब हमें पूर्व दिशा को जाना था। आज लिक्शिफू पहुँचने का विचार था।

तिब्बत में चलने का प्रचलित और उचित तरीका है, प्रातः ही चल देना। दिन में सत्तू अथवा अन्य कुछ सामान खाकर निर्वाह करना और शाम को ही डेरा डालने के बाद एक ही बार खाना बनाना। हर दृष्टि से यही समुचित भी है।

थोड़ा ही चलने पर हमने मैदान में प्रवेश किया। मैदान की दूसरी सीमा एक पर्वत थी। उसी के कोने के पास से हमें उत्तर की ओर घूमना था। मैदान के दूसरी ओर लगे तम्बू दीख रहे थे। समझते थे कि बस, अभी उस छोर पर पहुँच जायेंगे परन्तु चलते-चलते दोपहर हो गई और हम अभी बीच ही में थे। देखते-देखते आँखें ऊब जाती हैं और चलते-चलते टाँगें। वही दृश्य सामने आता है और उतना ही दूर लगता है। वही पहाड़ियाँ रुण्ड-मुण्ड सी और वही मैदान। परिवर्तन का नाम नहीं। व्यक्ति का मन भी ऊबने लगता है उस अपरिवर्तनशीलता से, और पहाड़ों की अभ्यस्त टाँगे ऐसे मैदानों में तंग आ जाती हैं।

बारह बजे के बाद हम उन तम्बुओं के पास पहुँचे। वे तम्बू तो उस किनारे से अभी दो मील की दूरी पर थे। यहाँ पर एक नदी थी। उसका पानी गन्दा था और बदबू भी देता था। साथ में थोड़ा पानी रखा हुआ था परन्तु वह कितनों तक पहुँचता। वहीं पर कुछ खाना खाया और उसी जल को मैंने तो पिया ही।

तिब्बत को मैं तो ठण्डा रेगिस्तान कहता हूँ। आगे भी हमें कुछ दिन पानी साथ ही लेकर चलना पड़ा, क्योंकि (सिवाय आगामी पड़ाव के) रास्ते में पानी मिलता ही न था। रेगिस्तान सी हवायें चलती हैं और वैसा ही वनस्पति का अभाव भी है। यहाँ पैदा तो कुछ होता नहीं। यहाँ के लोग यात्री को देखकर हाथ फैला देते हैं। पैसों के लिये नहीं खाद्य पदार्थों के लिये। पैसे से वे क्या करेंगे?

खाद्य पदार्थ तो दुर्लभ हैं। कहीं-कहीं तो यात्रियों को दिक्क कर देते हैं ये बुभुक्षित भिखारी।

फिर चले, उस पर्वत के छोर पर पहुँचे। यहाँ भी कुछ तिब्बतियों के घर (तम्बू) थे। उनका तम्बू ऊन के कपड़े का बना रहता है और बड़े ढंग से लगाया जाता है। भीतर जगह काफी रहती है और आदमी सीधा खड़ा भी हो सकता है। एक चौकी पर लामागुरु की तस्वीरें रहती हैं। प्यालियों में पानी रहता है और दीपक तथा चूल्हे पर चाय का बर्तन। मैं तो एक घर में घुस गया। मालिक कपड़े सीं रहा था और घर के बाहर छाँछ सूख रही थी। वे लोग चंवर गाय पालते हैं। उसी से घी, दूध और छाँछ होती है। तिब्बत भाषा के दो-चार शब्दों तथा इशारों से थोड़ी बातचीत हो जाती है। यात्रियों को देखकर उन लोगों को उत्सुकता होती ही है।

यहाँ से आगे थोड़ा ही चलना होता है, ऐसा कहा गया था, परन्तु तीन मील से वह कम न था। मुझे तो खूब खला। तिब्बत की यात्रा तो बिल्कुल अरोचक प्रतीत हो रही थी। मन तथा तन इसे मुसीबत सी मान रहे थे।

तिब्बत में रोचक है तो आकाश जो दिन भर में कई रंग बदलता है। अब बादल आते हैं, पल भर में बूँदे पड़ती हैं। फिर खुलता है और कड़ाके की धूप पड़ती है। फिर बादल आते हैं और छोटे-छोटे ओले गिरते हैं। साथ में बर्फानी हवा बर्छियों सी लगती है। फिर झट खुल जाता है और सब अरुचिकर हो जाता है – वह मैदान और वह पर्वत की समाप्त न होने वाली ढालें, वह वीराना और उस वीराने के निवासी!

लिक्शिफू का पड़ाव भी एक नदी के किनारे है। नदी में पानी नहीं, कीचड़ बहता है। वह बू भी देता है। उसी पर फिटकरी का प्रयोग कर जैसे-तैसे गले से नीचे उतारा। करते क्या? परवशता थी। प्राण तो उस दिन के लिये उत्सुक थे जब शीतल सुस्वादु जल भर-पेट मिलेगा। उस जल में नहाना कैसे हो! गोविन्द वल्लभ और मैंने उस दिन वायु-स्नान से ही तृप्ति पायी। आँखों से देख कर तो उस पानी से कुल्ला करने को भी मन नहीं होता था।

दूसरे दिन प्रातः ही चले। हमारा उद्देश्य था खिमलिंग। सामने धार पर से जाना होता है। एक मील चलकर चढ़ाई आरम्भ हुई। वह समाप्त होने में ही न आती थी। घाटों पर तिब्बती लोग ऊँचा पत्थरों का निशान बना रखते हैं। झण्डियाँ भी प्रायः लगी रहती हैं। उसी के समीप जाकर हम लोगों ने थोड़ा आराम किया और फिर नीचे को लुढ़के। रास्ता उतरता चला जाता था। हम अपेक्षाकृत गर्म स्थान की ओर जा रहे थे। मध्यान्ह को सत्तू खाया और थोड़ा-थोड़ा हिस्से के मुताबिक पानी पिया। कभी ऊपर, कभी नीचे, चलते हुए हम लोग चार बजे के पूर्व ही खिमलिंग जा पहुँचे।

खिमलिंग सतलुज नदी के किनारे है। पानी की आशा टाँगों को स्फूर्ति दे रही थी। समीप ही में खिमलिंग के घर दीखते थे, परन्तु उतरते-उतरते ठीक दूरी का अनुमान न हो पाया था। सारे तिब्बत में यह एक विडम्बना होती है, नेत्रों की। आखिर व्यक्ति आँखों पर विश्वास ही करना छोड़ देता है। ठण्डे पानी के प्रवाह में से पेट भर पानी पीकर सन्तोष हुआ प्राणों को। कितने ही दिनों के बाद ऐसा पानी पीने को मिला था। वह कितना सुस्वादु तथा शीतल था।

खिमलिंग में कुछ घर हैं और बहुत सी गुफायें। वैसे तो तिब्बती भाषा में घर भी गुम्फा ही कहा जाता है परन्तु वहाँ तो उन लोगों ने पहाड़ को खोद-खोद कर काफी अच्छे और बहुत संख्या में निवासस्थल बना रखे हैं। वहाँ बौद्ध विहार हैं परन्तु आज कल तो वहाँ कोई लामा न था। केवल मात्र कुछ शिष्य तथा शिष्यायें थीं। शिष्य को डाबा कहते हैं और शिष्या को चामा। लामा तो आचार्य होता है। लड़कियाँ तथा लड़के छोटेपन में चढ़ा दिये जाते हैं विहारों में।

यहाँ पर हमें कुछ हरियाली देखने को मिली (खिमलिंग में ही तिब्बत सरकार का तहसीलदार रहता है। उससे भेंट हुई। उन खेतों में जौ हो रहा था और मूलियाँ। मूली के पत्ते हमें भी खाने को मिले।

वहाँ सतलुज पर एक पुल है। वह नाजुक सा है। चंवर तो पुल से पार जाते ही नहीं। अतः सामान वैसे पार करना होता है। चंवर नदी में से तैर कर आते हैं। शाम को ही हम उस पार हो गये।

मैं गुम्फायें देखने गया। वहाँ भी उस समय ऊजड़ था। लोग चंवर गायों को लेकर लिक्शिफू के मैदान में गये हुए थे। प्रवेश स्थल पर एक झण्डा लहरा रहा था। एक कुत्ते ने मेरा स्वागत किया और मैं वहाँ से लौट आया। हाँ! दो तस्वीरें खींच लाया जिनसे गुम्फाओं के बारे में पता चल सकता है।

खिमलिंग में गर्म पानी का एक सोता है। चूने का गुम्बद सा बना है। उस पर से पानी नीचे ढलकता है। नीचे ही कुण्ड बने हैं। वह संगमरमर सा सफेद, बहत सुन्दर लगता था – विशेषत: प्रात:काल, बाल-रवि के प्रकाश में। बगल में ही सतलुज का वेगवान् प्रवाह था।

यहाँ पर लकड़ी नहीं होती। दूर से लानी पड़ती है। अत: मोल मिलती है। यात्रियों को देखने तहसीलदार की स्त्री भी आई थी। खाने को माँगने में उसे भी कोई संकोच न था। स्त्रियाँ अपने गालों पर प्राय: कत्था-सा कुछ रंग लगा रखती हैं। सौन्दर्य के लिये अथवा फटने से बचाने के लिये सो कहना कठिन है।

चंवरों वाले तोपगे का डेरा तो हमेशा खुले में ही होता था। आते ही झट उसकी आग सुलग जाती थी और चाय की केटली जिसमें कम से कम दो सेर तो पानी आता ही होगा, चढ़ जाती थी। खाल की धौंकनी तैयार ही रहती थी। देखते-देखते चाय बनती थी, नमकवाली और उसमें चंवर गाय का मक्खन छोड़ा जाता था। प्याले पर प्याला पीता चला जाता था। उसी में सत्तू डालकर जुबान से ही चाट लेता था। मैंने तो देखा नहीं, साथी लोग कहते थे कि वैसी भरी हुई 4-5 केटलियाँ चाय की पी जाता है। हमारी रसोई से भी चार मोटी-मोटी रोटियों से उसका सत्कार होता था।

❖ ❖ ❖

(17)

भीतर की एक झाँकी

खिमलिंग पहुँचने से बहुत पूर्व जब हम इधर भारत की सीमा को पार भी न कर पाये थे, 'आखिर मैं कैलाश क्यों जा रहा हूँ?' यह प्रश्न भीतर उठा था। 'गत वर्ष, विद्यानन्द जी के आग्रह पर मैं तैयार भी था परन्तु फिर भी न गया और इस वर्ष क्यों इतने उत्साह के साथ कैलाश के पथ का पथिक बना?'

उत्तर भी भीतर ही से स्फुट होकर आता था। 'शंकर मुझे बुला रहे हैं, नहीं-नहीं स्वयं मुझे कैलाश लिये जा रहे हैं।' गत वर्ष तो मेरी ही अन्तरात्मा मुझे प्रेरित नहीं कर रही थी, जाने के लिये। आन्तरिक प्रेरणा होती तो बाह्य किसी प्रकार की अड़चन हो ही कैसे सकती थी।

आज से कई वर्ष पूर्व की घटना है, जब मैंने इन अल्मोड़ा के पर्वतों में पहले-पहले प्रवेश किया था। वह एक बहुत ही महत्वपूर्ण घटना, जीवन की दिशा को आमूलचूल बदल देने वाली थी। मैं मोटर में था। सायं समय था और मोटर दौड़ती हुई सोमेश्वर की ओर जा रही थी। किसी ऊँची अदेहधारी चेतना ने मेरा इन पर्वतों में स्वागत किया और लक्ष्य की प्राप्ति का आश्वासन भी दिया। उस चेतना का रक्षामय हस्त मेरे सिर पर बना ही रहा, ऐसा मैं प्रतीत करता रहा हूँ। **'म्हारी उनकी प्रीत पुरानी।'**

समय बीतता गया। वह समय भी आया जब मुझे उस चेतना का स्फुट अनुभव होने लगा। मैं पहिचानने लगा कि वह कौन है जिसकी कृपा का मैं पात्र बना हूँ। मैं उस चेतना को आदि गुरु शंकर की चेतना समझने लगा। यह आन्तरिक जगत् का भान था। पौराणिक शिव का इसके साथ कोई सम्बन्ध न था। (यद्यपि पौराणिक शिव भी मैं एक प्रतीक ही समझता हूँ) वह चेतना मुझमें और मैं उस चेतना में धीरे-धीरे रमने लगा।

कैलाश मेरी समझ में वह केन्द्र है, जहाँ से उस महती चेतना का प्रत्यान्यतः प्रसार होता है। वैसे तो वह चैतन्य हर स्थल पर प्राप्य है, परन्तु कैलाश उसका इस पार्थिव लोक में प्रतीक भी है और प्रसार केन्द्र भी। अतः शिव वहाँ पर अधिक स्पष्ट रूप से अनुभव हो सकते हैं। वैसे तो दक्षिण में चिदम्बरम् तथा पंढरपुर ने मुझे बहुत ही प्रभावित किया था। महाशक्ति के विचित्र प्रवाह को मैंने वहाँ अनुभव किया। पहले स्थान के बारे में तो वहाँ पहुँचने से पूर्व मैं कुछ जानता भी न था।

इस अनुभव की पृष्ठ भूमिका से यह समझना कठिन नहीं कि मैं किस मनोवृत्ति को लेकर चला जा रहा था कैलाश की ओर। कभी भाव उमडते थे और कभी प्रीति की, श्रद्धा की तरंगें उद्वेलित होती थीं। परन्तु वह तो कभी-कभी होता था। अपनी तीव्रता के कारण वह उद्वेग तो रोज़-रोज़ सहन भी नहीं किया जा सकता था। परन्तु प्रायः भीतर एक निस्तब्धता रहती थी, जिसमें यह सभी कुछ स्थिर रूप से छिपा रहता था।

'मैं तो अपनी श्रद्धांजलि चढ़ाने जा रहा था'। यदि इतना अहंकारमय प्रयोग मैं कहने के लिये कर सकूँ तो। वस्तुतः निर्णायक तो और ही थे और वे ही ले जा रहे थे। यह भाव तो मुझे पहले ही हो चुका था कि यह यात्रा मेरे जीवन में विशेष महत्व के अनुभवों को जागृत कर देगी आध्यात्मिक दृष्टि से। और वे अनुभव मेरे लिये ही नहीं मेरे स्नेही मित्रों के लिये भी महत्वपूर्ण होंगे।

एक नहीं, अनेक ऐसे यात्री रहे हैं जिन्होंने कुँगरी बिंगरी के घाटे से ही कैलाश के दर्शन किये हैं। हमारे साथ में भी ऐसे थे। हम तो इतने दिनों तिब्बत में भी चल चुके थे, परन्तु आज तक हमें वह झलक न मिली थी। शायद मिल जाती तो आगामी आनन्द वैसा अतिशायी प्रतीत न होता। हम उस अलक्षित लक्ष्य की ओर बढ़े जा रहे थे पूर्व की दिशा में।

मैंने जो कुछ ऊपर की पंक्तियों में लिखा है वह शायद किसी को काल्पनिक सा प्रतीत हो। मुझे तो इतना ही कहना है, कि वह मेरे लिये, मेरे अनुभव का ठोस सत्य आज भी है। मैं ऐसे अनुभवियों

में अपने को अकेला भी नहीं पाता हूँ। आध्यात्मिक संवेदनशीलता का अतिशय ही इस प्रकार की अनुभूतियों में कारण रहता है।

(18)

गुर्ग्यम का विहार

हमारा रास्ता गुर्ग्यम होकर तीर्थापुरी जाता था। गुर्ग्यम भी सतलुज के किनारे पर था और खिमलिंग भी। एक रास्ता नदी के किनारे-किनारे जाता है और उससे गुर्ग्यम आठ ही मील होता है परन्तु चंवर उस रास्ते जा न सकते थे और हम इकट्ठे ही चलना चाहते थे। अत: पहाड़ों पर से जाता हुआ रास्ता पकड़ा गया। केवल तीन मील अधिक जाना होता था।

तिब्बत में प्रवेश करते ही हमने समझ लिया था, कि चढ़ाइयों से बहुत दिनों के लिये पल्ला छूट गया है। अब तो मैदानी रास्ते होंगे, इस बात का सन्तोष था परन्तु अनुभव में हमेशा वैसा रहा नहीं। थोड़ी ही दूर सतलुज के किनारे चल कर हमने एक सीधी खड़ी चढ़ाई चढ़नी आरम्भ कर दी। मैं कह ही आया हूँ कि तिब्बत में रास्ते नहीं के बराबर होते हैं। एक के बाद दूसरी, चढ़ाई पर चढ़ाई आती चली गई और ऊपर से सूर्य की प्रखर किरणें। ठण्डे प्रदेशों में जब हवा नहीं चलती तो सूर्य बहुत ही व्याकुलता पैदा करता है। चंवर तक तो उस दिन परेशान थे। सवारी वाला चंवर तो बेचारा उस चढ़ाई में हाँफने लगा था।

चढ़ाई तो दीखने में बहुत लगती ही नहीं परन्तु चढ़ने में आफत आती है। उस 15 हज़ार की ऊँचाई पर इतने दिन तिब्बत में काटने पर भी साँस फूलता ही था और कदम मानो गिन-गिन कर आगे रखे जा रहे हों।

इन पहाड़ियों पर जम्बू घास होती है। ज़रा नीला सा मोटा दलदार तिनका होता है और फूल भी लगता है। यह घास सुगन्ध वाली होती

है और अल्मोड़े जिले में तो प्रायः सभी घरों में शाक को सुगन्धित करने के लिये इसका छौंक दिया जाता है। तिब्बती लोग इसे नीचे के प्रदेशों में बहुत मात्रा में ले जाते हैं और बेच कर निर्वाह करते हैं। इस घास को सब्जी के लिये उन पर्वतों से, माताओं ने खूब चुना।

रास्ते में पानी नहीं मिलेगा इस बात की खबर हमें मिल चुकी थी। अतः पानी की बोतलें भर कर साथ रखी गई थीं। एक ढाल से दूसरी ढाल पर सरकते-सरकते हम ऐसी जगह आखिर पहुँच ही गये जहाँ से हमें उतरना ही उतरना था। चढ़ाई समाप्त हो चुकी थी। चढ़ाई से व्याकुल हृदय कितना सन्तुष्ट होता है, उसकी समाप्ति जानकर।

कहाँ तो वह तीव्र धूप और कहाँ थोड़ी ही देर में आकाश में बादल मण्डराने लगे और नन्हें-नन्हें ओलों की बौछार आई। वह क्षणिक लीला थी। हवा चली ज़ोर की। ओले भी गायब और बादल भी, कड़ाके की धूप लगने लगी।

लगभग एक बजे हमें नदी के तट से काफी दूरी पर नीचे मैदान में गुर्ग्यम की गुम्फा दीखने लगी। घाटी पर से उतरते हुए (वस्तुतः उन पत्थरों में उतरना नहीं बनता था, लुढ़कना होता था), कई ऊँचाइयों और नीचाइयों को फाँदते हुए, उसी भूमि पर जिसे हमने मैदान समझा था, लगभग दो बजे दोपहर को वहाँ पहुँचे। मैदान की गर्मी याद आ रही थी। उसी गुम्फा में जो भीतर मन्दिर है उसकी सीढ़ियों पर आकर बैठ गये। समीप जो पानी था उसे पीने को मन मानता न था। वह गर्म था और बहता हुआ प्रतीत नहीं होता था। दो माताओं ने ही हिम्मत की और पानी का एक पात्र दूर से, आधे मील से अधिक दूर से, भर लाई। तृषा शान्त हुई और जान में जान आई। तीर्थापुरी वहाँ से केवल नौ मील होता है परन्तु उस गर्मी और चढ़ाई ने बहुतों को परेशान कर रखा था। अतः सही निश्चय रहा कि आज यहीं मुक़ाम हो।

उस डबल प्लाई टेंट में रहने में तो बहुत आराम मिलता है परन्तु दिन भर रास्ता नापने के बाद उसे लगाना बोझा ही मालूम पड़ता है। परिश्रम अधिक पड़ता है। कम से कम चार आदमियों

की आवश्यकता पड़ती थी और 13, 14 तो खूँटे गाड़ने होते थे। कई एक लोहे की कीलें गाड़ी जाती थी। कई अतिरिक्त रस्सियाँ भी बंधती थीं। दरी बिछती थी। फिर कहीं जाकर रहने लायक होता था। आधा घण्टा लग ही जाता था। मन बेइमान हो रहा था कि इन्हीं मकानों में कहीं स्थान मिल जाये तो इस परेड से दो वक्त के लिये तो छुट्टी मिले। पानी की कमी थी और इन विहार वाले लामा, डाबे और चामों के रोष का डर भी। दूसरे, रसोई के लिये जो स्थान था, वहाँ शायद बैल भी भूसा खाना पसन्द न करते। नदी के किनारे तम्बू के लायक भूमि ढूँढ़ी और तम्बू परेड पूरी कर जम गये। हवा तो तम्बू लगाने में ही परेशान किये थी। रसोई वालों की हालत का तो क्या कहना? न जाने उन 15 आदमियों की रोटी बनाने में दीदी के कितनी जगह हाथ झुलसे होंगे। हम तो कल्पना ही कर सकते हैं। वे जानती हैं। सचमुच हवा न थी, आँधी थी।

माँगने वालों ने यहाँ परेशान किया। एक चामा छोकरा था। उसकी चंचलता आज भी याद आती है। शायद उसमें बन्दर ने वास किया था। और भिखारी तो एक के बाद दूसरा चले ही आते थे। ताँता बंधा था। मास्टर साहिब ने तो कठोर वाणी ही उनका उचित सत्कार समझा।

स्वामी जी ने अपने गत वर्ष के अनुभव कर रखे थे। गत वर्ष जिनके साथ वे आये थे, उनकी स्थानीय लामा के साथ मित्रता थी। उन्होंने काफी कुछ खाद्य सामग्री तथा रुपये लामा को भेंट किये थे। प्राप्ति की आशा जगी हुई थी। कुछ भेंट तथा रुपये (एक या दो) थाली में रखकर, अपने दुभाषिये को साथ लेकर, लामा से भेंट करने को हम लोग भी गये। लामा अपने लिये एक मकान बनवा रहा था और उसमें खूब व्यस्त था। गये, नमस्कार, पुरस्कार हुआ, भेंट दी गई। थोड़ा सा परिचय दिया गया। चर्चा चलनी आरम्भ ही हुई थी कि मैंने चमड़े के केस में से कैमरा निकाला और उसका व्यू फाइण्डर जो ऊपर को था खोला। लामा एकदम से तिलमिला उठा। मैंने बिना पूछे फोटो ली नहीं थी, केवल तैयारी कर रहा था कि यदि वह राजी हुआ तो ले लूँगा। हम लोगों से घबरा कर उसने हमें चले

जाने को कहा और सीधा हाथ तलवार पर पहुँचा। खूब मज़े की रही। वह हमसे डर गया था।

तिब्बती लोग कैमरे से बहुत डरते हैं। अभिचार-कर्म में फोटो बहुत उपयोगी होती है। यह बात सम्भवत: ये लोग जानते हैं। अथर्ववेद में तो, मिट्टी का पूतरा बना कर ही, अभिचार सिद्ध हो जाता है, यदि फोटो मिल जाये तो कहना ही क्या? दूसरे, अभी चार वर्ष पूर्व कुछ डाकुओं ने जो रूसी सरहद के थे (सम्भवत:), गुर्ग्यम के विहार को लूट लिया था। लामा कठिनाई से जान लेकर भाग पाया था। स्वामी जी वाली सारी आशायें ढेर हो गईं। हमें मन्दिर दिखाने के लिये एक डाबा को नियुक्त कर दिया गया था। हम उस गुम्फा से नीचे मन्दिर की ओर आ गये।

यह तो पता चल ही चुका था कि तिब्बत में पेड़ नहीं होते। अत: इमारती लकड़ी वहाँ कैसे हो सकती है? वह लकड़ी तो उन हिमालय के बर्फानी घाटों के पार से ही आ सकती है। कितने पुरुषार्थ तथा पैसे का काम है, उन घाटों के पार से लकड़ी मँगवाना। भारत से तिब्बत में हिमालय के पार लकडी! वहाँ के लामा ने यही किया था। नीति घाटा से लकडी आती थी। वहाँ से नीति घाटा सात दिन का रास्ता है। उसके शिष्य डाबे ही प्राय: मकान बनाने का सभी काम कर रहे थे। वह लामा पण्डित है। भारत भी शायद आया है और बहुत पुरुषार्थी है। उसने गुर्ग्यम विहार की बहुत उन्नति की है। पुनर्निमाण का सभी कार्य उसी का रहा है। तिब्बत सरकार से सहायता भी प्राप्त होती है; इसमें सन्देह नहीं।

वह मन्दिर सुन्दर है। बाहर से उसकी विशालता का अनुमान करना कठिन है। दीवारों पर चार्ट टंगे हैं। चित्रकारी भी हुई है और पीछे की ओर छोटे लम्बे कमरे में मूर्तियाँ हैं। वह बड़ी, जीवित प्रमाण से भी बड़ी हैं। मूर्तियाँ किनकी हैं? यह कहना कठिन है, प्रयत्न करने पर भी हम निश्चित रूप से नहीं जान पाये परन्तु हैं बहुत सुन्दर, कला की दृष्टि से। लामा स्वयं एक उच्चकोटि का कलाकार है। ज्योति जल रही थी। प्यालियाँ भी रखी ही थीं। पूजा का सभी सामान था।

बौद्ध देव माला से मुझे परिचय नहीं के बराबर है। वे चित्र जो दीवारों पर थे, पौराणिक से लगते थे।

डाबा लोग स्वयं सिक्कों को स्वीकार नहीं करते। मन्दिर में भले ही चढ़ा दिये जायें। खाद्य पदार्थों को तो सभी, सहर्ष स्वीकार ही नहीं करते माँगते भी हैं। विहार में सभी का – लामा, डाबा तथा चामा का – सिर मुण्डा रहता है – दाढ़ी भी नहीं रहती, परन्तु गृहस्थी लोग बाल रखते हैं। दाढ़ी तो मैंने किसी के भी नहीं देखी। शायद तिब्बतियों के दाढ़ी उगती ही नहीं।

गुर्ग्यम में कुछ और भेड़ों वाले भी तम्बू डाल कर पड़े थे।

(19)

तीर्थापुरी

गुर्ग्यम से तीर्थापुरी का रास्ता, अधिकतर सतलुज के किनारे-किनारे है। तीर्थापुरी भी सतलुज के ठीक किनारे पर है। उस दिन का रास्ता कितना मनोरम था। घास के विशाल मैदान, पली हुई ऊँची-ऊँची घास! सभी ओर हरा-भरा। तिब्बत में ऐसा दृश्य तो दुर्लभ है। कई दिनों के बाद नेत्रों ने ऐसा दृश्य देखा था। रास्ते में पानी के अनेक नाले थे, जो सतलुज में गिरते थे। कीचड़ भी था ही। कहीं-कहीं तो ठेठ दलदल थी। फँस जायें तो निकलना मुश्किल हो।

बाकी का आधा रास्ता तो वही तिब्बती था। पत्थर के ढेलों से पटा हुआ मैदान। पाँव नंगे हों तो होश ठिकाने आ जायें। रास्ता बिल्कुल मैदान ही था। तीर्थापुरी सामने दीख रही थी।

तिब्बत के मैदानों में एक जंगली जानवर देखने में आता है। पतली-पतली, लम्बी-लम्बी टाँगे परन्तु देखने में घोड़ा ही लगता है। बदन पर धारियाँ सी भी होती हैं और पीठ पर जीन का सा निशान। इसे लोग रामघोड़ा कहते हैं। झुण्डों के झुण्ड फिरते हैं। उनकी दौड़ पलटन के सिपाहियों सी लगती है। कभी-कभी खड़े होकर निश्चल

हुए मनुष्यों की ओर देखा करते हैं। शायद उतने आश्चर्य से, जितने आश्चर्य से मनुष्य उन्हें देखते हैं। उस मरुभूमि में मनुष्य भी तो कभी-कभी दीखता होगा। ऐसे घोड़े हमें कई बार देखने को मिले।

हम सतलुज के किनारे-किनारे नीचे की ओर चले जा रहे थे। गर्म स्थान था, तिब्बत के प्रमाण से और वहाँ पर धूप चुभती थी। आखिर तीर्थापुरी आ पहुँचे। नदी के साथ लगा हुआ एक तिप्प था, जिसके दोनों ओर गर्म पानी के सोते थे। एक स्थल पर से तो खूब पानी निकलता था और बहुत गर्म। दूसरी जगह पर पानी थोड़ा ही था।

तीर्थापुरी को भस्मासुर की पौराणिक गाथा के साथ जोड़ा जाता है। वहाँ की सफेद मिट्टी को भस्मासुर की भस्म कहा जाता है। वह प्रसाद रूप वहाँ से लाई जाती है और मस्तक पर धारण की जाती है। उस मिट्टी में चूने तथा गन्धक का सम्मिश्रण है, शायद केलसियम सल्फेट ही है। समीपवर्ती पहाड़ भी देखने में अजीब हैं। वहाँ पर हैं तो पत्थर परन्तु उनका आकार तथा निर्माण पथराई हुई हड्डियों का सा दीखता है। रंग तो हड्डी का सा नहीं, काला ही है।

भस्मासुर वहाँ पर भस्म हुआ हो या नहीं; यह तो कौन कहे, परन्तु मैं यह कह सकता हूँ कि उस भूमि का प्रभाव, वहाँ पर चलती हुई आकाशीय तरंगें, किसी प्रकार की उच्चता को अथवा भद्रता को लिये हुए नहीं हैं। चाहे वह गन्धक का प्रभाव हो, चाहे गर्म पानी का अथवा किसी के अमंगलमय संकल्प का, परन्तु वह भूमि तो मुझे बिल्कुल ही अशोभन प्रतीत हुई।

भस्मासुर की भस्म को मस्तक पर चढ़ाने का क्या प्रयोजन? यह मुझे समझ में नहीं आया। भस्मासुर की भस्म भी क्या मतिभ्रष्ट न कर देती? ऐसा भय होता है।

हाँ! मुझे यह बता देना चाहिए कि तिब्बत में भूख बहुत बढ़ जाती है। पाव भर खाने वाला आधा सेर खाने लगे और फिर भी अपने को भूखा अनुभव करे तो कोई विस्मय नहीं। ठण्ड वहाँ बहुत होती है। बर्फानी पानी भी पाचन शक्ति को खूब तीव्र करता है, तिस पर रोज़-रोज़ का चलने का परिश्रम। हम लोगों को इस बात का पता नहीं था। अतः खाने-पीने का सामान आवश्यकता से कम रहा।

ज्ञानिमा मण्डी में हम लोगों को आटा मिल जायेगा और फिर तकलाकोट में, यह निश्चित ही था। दर्चिन की मण्डी कैलाश के पाँवों में है परन्तु वहाँ मिल ही जायेगा, ऐसा निश्चयात्मक कहना कठिन था। मुझे जब इस बात की सूचना मिली कि सामान खत्म होने जा रहा है तो मैंने यही उचित समझा कि बजाय एक या दो दिन के उपवास के यह अधिक भला होगा कि जितना है उसे इस प्रकार से बर्ता जाये कि दर्चिन में यदि कुछ प्राप्त न हो तो भी हम लोग ज्ञानिमा तक पहुँच सकें। भूखे तो चलना भी कठिन होगा। उसके लिये रोटियों का राशनिंग ही एक तरीका था। हिसाब लगा लिया गया और तीर्थापुरी से ही अमल शुरू हो गया।

प्रतीत होता है कि हमारे एक साथी उस राशन में भूखे रहे। प्रातः ही उनके चित्त की व्याकुलता फूट पड़ी और उसके साथ ही उनके मन की अन्य क्रियायें भी प्रगट हो गईं। वह एक अरुचिकर घटना थी। कितनों के चित्त उससे व्याकुल हुए और कितने ही मन उस साथी के प्रति सदैव के लिये मैले हो गये। मैंने अपना हाथ खींच लेना (यथासम्भव) ठीक समझा। सारा मामला जल्दी ही सिमट गया।

जो क्षुधा यात्रियों को इतना व्याकुल करती है, उसके कारण तिब्बती लोग कितने व्याकुल होते होंगे और कैसे गुजर करते होंगे, उस वीरान में, इस पर आश्चर्य होता है। एक तो यह समझ लेना चाहिए कि जैसा प्रभाव गर्म स्थानों से जाने वालों पर पड़ता है, उस जलवायु का, वैसा वहाँ के निवासियों पर नहीं पड़ता। उन्हें भी भूख सताती है, परन्तु साधारण रीति से। अभाव के कारण इच्छा बनी रहती है। सत्तू खाकर, भुना हुआ माँस खाकर और चाय पीकर उन लोगों के दिन कटते हैं। रोटी और खाजा (च्यूड़ा) उनके लिये कभी-कभी प्राप्त होने वाले भोग हैं। इन्हीं के लिये वे तरसते हैं। और वहाँ के जानवर (मैं तो चंवरों को ही जानता हूँ) भूख को चुनौती देते हैं। जहाँ हम पड़ाव करते थे, वहाँ कहीं-कहीं पर घास होती थी, वह भी नाममात्र को। कहीं-कहीं बिलकुल ही न होती थी। उसी पर बिचारे 2-3 घण्टे मुँह मार लेते थे। अंधेरा होते ही तोपगे उन्हें बाँध देता था, उस काली-काली लम्बी खूटी से बँधी हुई

रस्सी से। चलने में वे खूब मज़े से चलते थे। सम्भवतः क्षुधा पर विजय पाई थी उन्होंने, अथवा जैसे ऊँट कई दिनों पानी के बिना चल पाता है, वैसे ही चंवर की यह विशेषता है कि बिना खाये वह कई दिनों तक चल सकता है।

तोपगे अपने घर के समीप ही था। मिस्सर वहाँ से दो मील होता है। वह सत्तू और मक्खनादि लेने घर गया। एक चंवर भी बदलना चाहता था। हम लोग दूसरे दिन जल्दी ही चलना चाहते थे जिससे रास्ता जल्दी ही कट जाये। परन्तु दूसरे दिन आठ बजे हम लोग प्रस्थान कर पाये। तोपगे देरी से लौटा था।

तीर्थापुरी में भी एक विहार है, छोटा सा। मन्दिर भी गुर्ग्यम के मुकाबले में नगण्य सा है। हमने वह विहार देखा था। लोग चवन्नी देकर घी का दीपक लगाते हैं। वास्तव में जलते हुए दीपक में ही घी डालते हैं। वे किनकी मूर्तियाँ हैं? मेरी समझ में तो यह आया नहीं।

तिब्बती लोगों के धार्मिक मन्तव्यों के विषय में मेरे मन में विशेष जिज्ञासा जागृत न हो पाई। डेविड नील की पुस्तक 'विद मिस्टिक्स एण्ड मेज़ीशियन्स ऑफ तिब्बत' मैंने पढ़ रखी थी। मेडम व्लावट्स्की का 'आइसिज अनवेल्ड' भी देखा था। उससे जो कुछ जाना था, उससे और अधिक जानने की इच्छा नहीं थी। और न ही हमारे पास साधन थे और न समय ही। हमारा दुभाषिया ऐसे काम के सर्वथा अयोग्य था।

'ओम मनि पेमे हुम्' का जाप, तोपगे भी प्रायः चलते-चलते अपनी माला से किया करता था। उसके होंठ हिलते थे। माला टूट जाने पर वैसे ही वह जाप करता था। लामा तो डमरू को घुमाते हुए जपा करते हैं। यह 'ओ३म मणिपद्मे हम' का विकृत रूप है। लामा ही उनका इष्ट होता है। दलाई या ताशीलामा – यह मैं नहीं कह सकता। उसकी मूर्ति घरों में रहती है और पूजा होती है। कैलाश को और इसके अधिष्ठातृ देव को वह पूज्य मानते हैं। प्रत्येक परिवार, अपने जानवरों सहित, वर्ष में एक परिक्रमा अवश्य करता है, यह मैंने सुना। यह परिक्रमा पैसे देकर दूसरों से भी करा ली जाती है।

कैलाश पर्वत

कैलाश के अनेक रूप

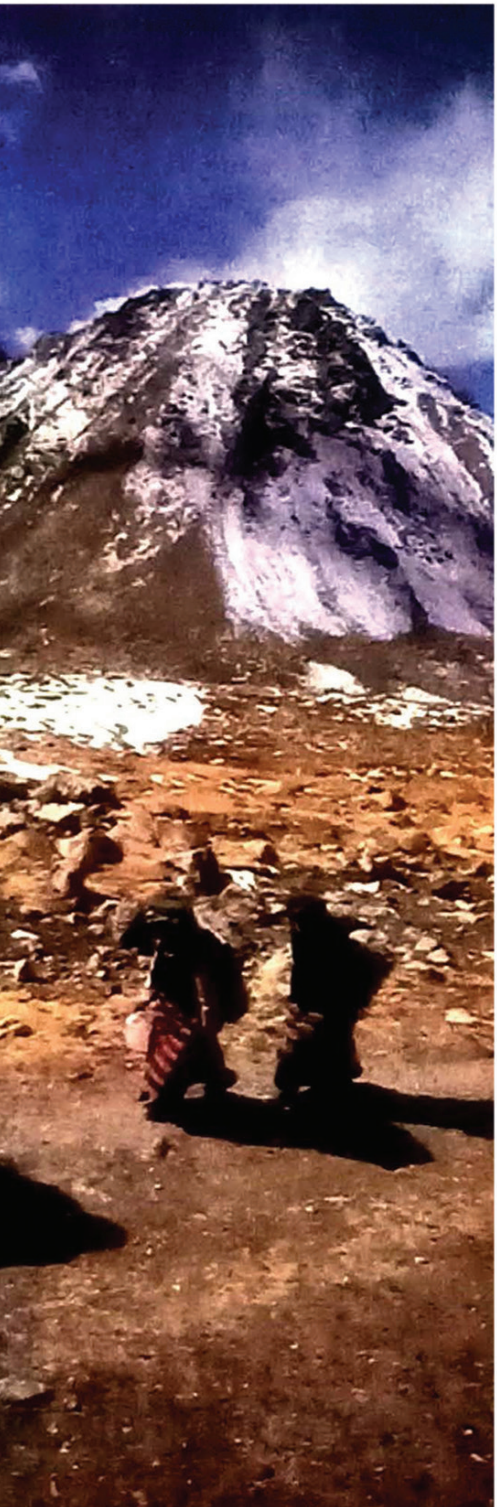

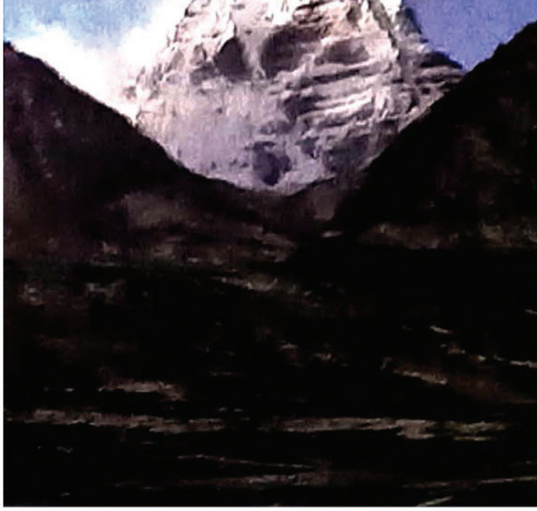

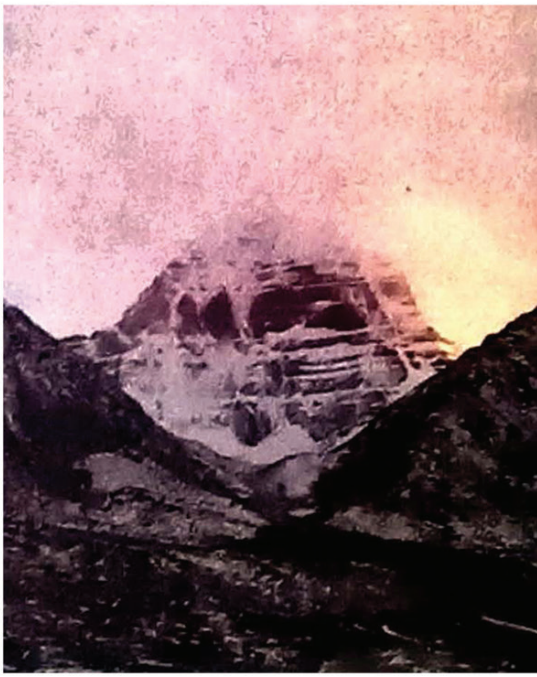

(20)

कैलाश का प्रथम दर्शन

तीर्थापुरी से यात्रा का अन्तिम चरण आरम्भ होता है। यह हमारे लिये कितने महत्व का था, इस बात का अनुमान आसानी से किया जा सकता है। इसी यात्रा में डाकुओं का भी सब से अधिक भय रहता है। खिमलिंग, गुर्ग्यम, तीर्थापुरी तथा कैलाश – यह रास्ता तिब्बत के रास्तों के प्रमाण से चलता हुआ रास्ता है। हमारे पास किसी प्रकार का हथियार न था। एक नौ इंच ब्लेड वाला चाकू नरेन्द्र के पास था, यदि वह हथियार समझा जा सके। बुर्फु तथा मिलम से एक बन्दूक लेने की चेष्टा की थी, परन्तु लोगों ने हमें यूँ ही बहला दिया। अधिक आग्रह हमें भी अच्छा न लगा।

हमने डाकुओं के लिये और भी प्रबन्ध किया था। फालतू रुपया मिलम में जमा कर आये थे। वह हमें ज्ञानिमा में मिल सकता था। बचा हुआ तोपकू में दे आये थे। वह भी ज्ञानिमा में लेने के विचार से। अपने पास बिलकुल थोड़ी रकम रखी थी और वह भी कई जगह कई तरीकों से छिपाई हुई। डाकुओं का हिस्सा गोविन्द वल्लभ जी के बटुए में रखा था। यदि डाकू मिल भी जायें तो उतने से उनको बहला दिया जाये। परन्तु अवसर ही हमें न मिला। सारा रास्ता यूँ ही कट गया। हमारे कुछ साथी तो डाकुओं के हाथ पड़ चुके थे, पिछली यात्राओं में।

इस यात्रा का दूसरा त्रास है नदियाँ, जिन पर पुल नहीं। वे वैसे ही पार करनी होती हैं। इतनी बड़ी हैं कि बह जाने का डर होता है।

प्रायः नमक वाली तुलसी तथा जावित्री की केसरिया चाय पीकर, सत्तू खाकर, बाँधा-बूँधी करके, हम तैयार खड़े थे। तोपगे के आते ही लदाई हुई और हम लोग चल दिये। आठ बज गये थे। यहाँ से कैलाश ढाई पड़ाव समझा जाता है। हम तो साहस करना चाहते थे। दूसरे ही दिन हमारा विचार दूसरी गुफा (डिरफू) पहुँचने का था।

रास्ता बिलकुल मैदान था। उस दिन हवा की तीव्रता का भी अन्दाज़ आया। तिस पर बूँदे भी आईं। ठण्डक भी अपूर्व थी। जैसे-जैसे कैलाश समीप आता, वैसे-वैसे मानो शीत बढ़ रहा था। दोपहर के लगभग खुल गया। हम लोग पहली नदी पर पहुँचे। वेगवती निर्मल धारा हमारे सामने चली जा रही थी। पहाड़ी नदी के पार करने में उचित स्थान सबसे अधिक महत्व रखता है और उसके बाद मज़बूत लाठी। इनके बिना मुश्किल पेश आती है।

स्वामी जी पार निकल गये। कर्पूरी लाल और मैं भी पार हुए। स्त्रियों की बारी आई। स्वामी जी तथा मुंस्यारी के भोंटिये के बल वह भी पार हुईं। यह भी एक परीक्षा थी जिससे हम पार हो गये।

हमारे ही साथ चलते थे, दो और व्यक्ति, जो मुंस्यारी के रहने वाले थे – ससुर और दामाद। ससुर चंवर पर चलते थे। वे श्वास की बीमारी से पीड़ित थे। बेचारे किसी तरह से चले ही जा रहे थे। ये लोग हमारे साथ तोपकू से चले थे। तोपगे के चंवर पर ही वे भी चलते थे। अतः साथ अनिवार्य था।

कुछ खाया, शीतल जल का पान किया, और चल दिये। हम लोग आठ मील आ चुके थे। तोपगे के मन में तो यहीं पड़ाव करने की थी, परन्तु न जाने क्यों वहाँ पर उसने कुछ न कहा।

वही मैदान, वही समतल भूमि और वही दूर पर्वतों का दृश्य बादलों से ढका सा। दो-ढाई मील चले थे कि एक नाला आया। वहाँ लगभग चौथाई मील लम्बा घास का मैदान था। दूरी पर पानी की छोटी सी धारा भी बह रही थी जो बाद में दीखी। चंवर ज़रा पीछे थे, हम लोग आगे बढ़े हुए थे। वहाँ पर उस नाले के किनारे हम रुक गये। घड़ी देखी तो अभी दो ही बजे थे। 'आगे चलेंगे ही' ऐसा परस्पर सोच रहे थे कि तोपगे आ गया। 2-4 पहाड़ी शब्द उसने भी सीख रखे थे। इशारा करते हुए उसने कहा 'यहीं भैठला'। मतलब था, यहीं पर पड़ाव करेंगे, आगे नहीं जायेंगे। हमने इशारा किया 'आगे जायेंगे।' परन्तु वह तो दृढ़ था, आगे न बढ़ने के लिये। मैं उठा और उसे बाधित करने के विचार से चंवरों को हाँकने लगा, परन्तु वह हम पर बाज़ी ले ही गया।

आधा फर्लांग आगे बढ़ने पर मैंने लौटकर देखा कि तोपगे जमीन पर बैठा है और उसके इर्द-गिर्द सभी बैठे हैं – गोविन्द वल्लभ, स्वामी जी, जीवन सिंह तथा दुर्गादत्त। उसने धरना दे दिया था। किसी प्रकार की युक्ति उस पर प्रभाव नहीं डाल रही थी। उसका कहना था, 'चंवर दो दिन के भूखे हैं, मर जायेंगे, आगे घास नहीं है।' आगे लगभग तीन मील में (यदि मेरी स्मृति धोखा नहीं देती), एक नदी थी और घास भी, परन्तु वह जाना ही नहीं चाहता था। उसी की विजय रही।

तोपगे में क्रोध नहीं दीखता था। ज़रा सी खीज थी परन्तु वह भी एक विचित्र उदासीनता में जो निराशा तथा परवशता के भाव में लीन हो रही थी। घर में बेचारा अकेला था। स्त्री मर चुकी थी, कन्या विवाहिता थी और पुत्र कोई था नहीं। वह घर गया था बड़ी आशायें लेकर, परन्तु उसके घर वाले, भाई बिरादरी, दूर अपने जानवर लेकर गये हुए थे। न उसे सत्तू मिले थे न मक्खन। हम भी उसे नोटिस दे चुके थे कि वह अपना प्रबन्ध स्वयं कर ले क्योंकि हमारी सामग्री कम पड़ रही थी। आन्तरिक क्षोभ उसके चेहरे पर झलकता था। मेरी तोपगे से खूब पटती थी। मुझे वह अच्छा लगता था और वह भी मुझे अच्छा मानता ही था। प्रायः रास्ता चलते, हम लोग एक दूसरे को बुलाते थे, प्रेम से। चार-पाँच शब्द जो तिब्बती के मैं जानता था, वह मैं कहता और वह भी उन्हें दोहरा देता था। तोपगे, बिसरवा, खंजम (अच्छे हो?) ही हमारी प्रधान बातचीत की सीमा थी। आज वह नीरस दीख रहा था। उसने वचन दिया कि कल जितना चलना चाहो चलना। वह रुकने को नहीं कहेगा। हम मान गये।

उसी मैदान में, आधा मील नीचे, उस जलप्रवाह के दूसरी पार डेरा दिया गया। यह स्थान सिलचक कहलाता है। इस स्थान का अपना ही महत्व है। तम्बू परेड के बाद हम लोग अपने तम्बुओं में थे। हालंग का शाक वहाँ पर हमें मिल गया था और उसे हमने कच्चा भी खाया। सब्जी भी उसी की बनने जा रही थी। तिब्बत

में हरा शाक तो एक बहुमूल्य पदार्थ होता है। हवा बहुत ज़ोर से चलने लगी थी। काफी दिन रहते ही मैं ध्यान के लिये बैठ गया।

उस दिन आँखें मूँदने पर विचित्र, प्रबल तरंगें चलती हुई अनुभव में आती थीं। ऊपर के केन्द्रों में विशेष क्रिया थी और हृदय में एक नूतन गुदगुदी सी। मैंने ध्यान समाप्त किया और गोविन्द वल्लभ जी से, जो मेरे पास ही बैठे थे कहा, 'आज हम कैलाश के तेज़ोमण्डल (aura) में प्रविष्ट हो गये हैं।

तम्बू खोलकर सामने देखा। वह वेगवती हवा तो बर्फानी तूफान की संगिनी थी। इस पाव घण्टे में ही सामने की पर्वतमाला पर बर्फ पड़ गई थी। और वह सफेद हो रही थी। बादल साफ हो गया था और सूर्य अस्त होने को था। तोपगे तम्बू का परदा उठाकर बोला, 'धेखला कैलाश!' मैं फड़क उठा। आज वह प्राप्त हो रहा था जिसकी आशा को लेकर इतने मीलों की यात्रा की थी, इन हिमाच्छादित पर्वतों के पार।

बाहर निकला! सामने पूर्व दिशा में धवल चोटी चमचमा रही थी, उस नीले काले-काले आकाश की पृष्ठ भूमिका में। साथ में दायें को दो चोटियाँ थीं बर्फ की, थोड़ी दूर पर ही बाँयें को एक। उस अस्त होते हुए सूर्य के प्रकाश में, उस धीरे-धीरे बढ़ती हुई अँधियारी में, वह उज्ज्वलता, बहुगुणित हो रही थी। वह दृश्य कितना अलौकिक था। कैमरा निकाला और स्नैप लिया। वह फोटो उस सुन्दरता का संकेत-मात्र देती है।

कैलाश के देखने मात्र से भीतर एक बिजली-सी दौड़ गई। भाव भी उमड़े और एक सन्नाटा भी हो गया। डायरी में मैं कुछ लिखता-लिखता बाहर गया। वह वाक्य कठिनाई से पूर्ण किया, डायरी बन्द की और मैं आँखें मूँदकर बैठ गया!

अब तो भीतर गति ही कुछ और थी। मैं अपनी सुधबुध ही भूल गया। मुझे यह भी भान नहीं रहा कि मैं कहाँ हूँ। विचित्र ही आन्तरिक स्थिति का मैंने लाभ किया। बहुत ऊँचे चैतन्य के स्तरों में मैं स्थित हो गया। धीरे-धीरे लगभग पाव घंटे के उपरान्त मुझे चैतन्य हुआ, बाह्य जगत के प्रति। बस, भीतर से यह भान हो रहा

था कि मेरी यात्रा सफल हो गई। शंकर की, उस आदि गुरु की मुझ पर कृपा है और उसका बढ़ता हुआ प्रवाह मुझे कृतकृत्य कर देगा, अपने लिये ही नहीं, औरों के लिये भी। उस बीच के समय में क्या-क्या अनुभव किया, इसे वर्णन करने में लेखनी भी थकती सी है।

भूख समाप्त हो चुकी थी। जब आन्तरिक क्रियायें बड़े वेग से होती हैं तो भूख लुप्त हो जाती है। यह मेरा पहले का भी अनुभव था। दीदी की जबरदस्ती के कारण थोड़ा खाया ही। कैलाश अंधेरा हो जाने पर भी बड़ी देर तक दीखता रहा। इस दर्शन की खुशी में मेवा बाँटा गया।

रात को नींद बिल्कुल ही न आई। शरीर गर्म हो रहा था, और खूब ज़ोर पड़ता हुआ अनुभव होता था, सभी ज्ञान तन्तुओं पर। साथ ही इतनी हलचल थी भीतर मानो आन्तरिक जगत में बिल्कुल एक नये आधार का, नई अवस्था का निर्माण होने जा रहा हो।

जैसे-तैसे करवटें बदलते रात बीती। वह रात बहुत लम्बी थी। जाड़ा भी बढ़ गया था, उस बर्फानी तूफान के कारण। प्रातः उठे तो ऐसा प्रतीत हो रहा था कि बुखार हो। पित्त का बहुत प्राबल्य था। हालंग के शाक ने भी गर्मी दिखाई थी। अंग-अंग शिथिल थे। स्नान करने का न तो साहस हुआ और न ही वह उचित प्रतीत हुआ।

इस प्रकार की आन्तरिक क्रिया की तीव्रता ने यदि शारीरिक साम्य को बिगाड़ दिया तो कोई विस्मय की बात न थी। यह अनुभव मेरे लिये नया न था। जब शरीर पूरा साथ नहीं दे पाता, आन्तरिक गति का, तो आन्तरिक गति को जारी रखने का और शरीर में शीघ्रातिशीघ्र परिवर्तन करने का और कोई उपाय ही नहीं। तभी मैंने इस बात को अनुभव करना आरम्भ किया था।

(21)

कैलाश के चरणों में

सोचा था कि दूसरी गुम्फा शाम तक पहुँचना चाहिये, अतः बहुत ही जल्दी चलना आवश्यक था। प्रातः जाड़ा भी खूब ज़ोर का था। बूँदाबाँदी भी थी, हवा भी थी। ऐसा लगता था कि मौसम कुछ नया ही रंग दिखायेगा, परन्तु यह ढंग बहुत देर तक न रहा। उस नदी पर पहुँचते-पहुँचते जिसका मैंने पीछे निर्देश किया है, आकाश साफ होने लगा। वह नदी तीन मील से भी अधिक दूरी पर थी, सम्भवतः पाँच मील पर रही हो। प्रतीत तो ऐसा ही हुआ।

यह नदी भी काफी वेगवती थी और चौड़ी – पिछली नदी से कहीं अधिक। मैंने तो चंवर का आश्रय लेना ही अच्छा समझा, पार हो गया। 2-3 माताओं को पार कराने के प्रयास में स्वामी जी थक गये। चंवर को फिर भेजा गया। थोड़े ही समय में सभी लोग सकुशल इस पार आ गये। यहीं पर थोड़ा सा प्रातराश हुआ। स्वामी जी ने नदियाँ पार कराने में, बहुत प्रशंसनीय परिश्रम किया था।

तोपगे को रास्तों का बहुत ही अच्छा ज्ञान था। हमें एक बार नहीं, अनेक बार बोध हुआ। हमारे अन्दाज़ तो कोरे काल्पनिक होते थे और उसके अनुभव पर आश्रित। न जाने कितनी बार उसने ये नदियाँ पार कर रखी थीं और यह मैदान भी। नदी से ऊपर मैदान में जाने में तोपगे के बोध का हमें पूर्ण विश्वास हो गया। छोटे से छोटे रास्ते से और कम से कम चढ़ाई से वह हमें ऊपर वाले मैदान में ले आया। यदि हमने अपनी बुद्धि का अनुसरण किया होता तो धोखे में रहते।

रास्ते के परिश्रम से मेरा शरीर और शिथिल हुआ जा रहा था। नदी के पार लगभग एक मील आये होंगे, जब चलने में मुझे कष्ट प्रतीत होने लगा। सवारी वाला चंवर तो खाली जा ही रहा था, मैंने उसे रोक लिया और सवार हो गया। ठण्डी हवा शरीर के मानो आर-पार होती थी। टाँगे तो चंवर पर बैठने से और भी जड़जड़ाती

थीं, ठण्ड से ठिठुरती जा रही थीं। थोड़े-थोड़े बादल भी थे ही, कभी मन्द सी धूप निकल आती थी। लगभग 12 बजे आकाश बिल्कुल साफ हो गया। धूप चमकने लगी, यद्यपि ठण्डी हवा भी तेज़ी के साथ चलती थी। धूप बहुत प्रिय लगती थी। हवा के कारण ऊपर से कम्बल ओढ़ना तो आवश्यक था ही। उधर कैलाश की चोटी भी चमचमाती हुई सामने दीखने लगी और उसकी समीपवर्ती बर्फ से ढकी हुई एक और चोटी भी। हम कैलाश की छटा में कदम आगे रखते जा रहे थे।

मेरी दृष्टि जब-जब कैलाश पर पड़ती थी, तब-तब विचित्र ही प्रभाव होता था। एक बिजली सी दौड़ जाती थी और आन्तरिक क्रिया जो आगे ही प्रबल हो रही थी, और भी प्रबल हो जाती थी। अतः इच्छा होने पर भी कैलाश की ओर देखते रहना सम्भव न था। रास्ते में 1-2 और फोटो लिये, कैलाश के।

धूप की तेज़ी के साथ-साथ मेरा बुखार भी बढ़ता जा रहा था, परन्तु किसी भी प्रकार का अन्य कष्ट न था। चंवर पर चढ़ने के कारण अवश्य ही कमर में अकड़न सी थी। एक बार लकड़ियाँ चुनने के बहाने विश्राम मिला और दूसरी बार लगभग एक बजे कुछ खाने-पीने के बहाने से, एक नदी के किनारे।

इस शारीरिक शैथिल्य ने मन को और भी स्वच्छन्द कर दिया था। पार्थिव-स्तर से उतना ही अधिक मैं अपने को उठा हुआ अनुभव करता था। एक बजे तक शरीर भट्टी-सा तपने लगा।

हमें बताया गया था कि सिलचिक से पहली गुम्फा जाना लगभग 11 मील होता है और वहाँ से दूसरी गुम्फा चार मील है। परन्तु तिब्बत की सारी यात्रा में हमें कभी भी रास्ता इतना लम्बा नहीं लगा। रास्ता प्रायः बिल्कुल मैदान था। दिन भी अच्छा था। हम लोग प्रातः 9 बजे चले थे; भूखे भी न थे। परन्तु दोपहर के बाद ही कुछ एक को छोड़कर, सभी में शिथिलता आने लगी। तोपगे के तो उस दिन और ही ढंग थे। उसका मन मरा सा था और वह क्षुब्ध भी प्रतीत होता था। चंवर तो उससे हंकाये नहीं बनते थे। आगे वह मुस्कुराता था, मुझसे प्रेम से बोलता था। आज चिड़चिड़ाहट थी। मैंने सुबह ही

जब उसे चंवरों को तेज़ हाँकने को कहा था तो उसका जला-कटा उत्तर था, 'चंवर हैं, घोड़े तो नहीं' मैं तभी समझ गया था आज पारा गर्म है। कल तो बेचारे को दोपहर के तीन बजे तक चाय भी नसीब न हुई थी। हमारे कल के व्यवहार ने उसे क्षुब्ध किया था। जब मैं चंवर पर चढ़ा हुआ था, तो मैंने उसके मन को बहलाने का बहुत यत्न किया, परन्तु वह बहुत गम्भीर था।

सवेरे से चलते-चलते आफत हो गई। पहली गुम्फा के कोई निशान ही न थे। शिथिलता सभी को प्रतीत होने लगी थी। चार बजे तक भी कैलाश अभी बहत दूर दीखता था। धीरे-धीरे सन्ध्या होने को आई। मातायें जगह-जगह बैठती थीं। नरेन्द्र भी श्रान्त थे। कर्पूरी लाल भी कुछ वैसे ही थे। स्वामी जी और गोविन्द वल्लभ चले जा रहे थे आगे-आगे।

पहली गुम्फा पहुँचने के लिये (तीर्थापुरी की ओर से) एक घाटी पार करनी पड़ती है। कैलाश के पश्चिम की ओर जो पर्वतमाला है, उसको कहीं से पार करके ही हम लोग कैलाश-पर्वत वाली घाटी में पहुँच सकते थे। दिन भर के चलने के बाद चढ़ाई कितनी मुश्किल प्रतीत होती है, यह समझना कठिन नहीं। माताओं को तो यह बहुत खली। मुझे भी बहुत थकावट प्रतीत हो रही थी। पैदल चलने की चेष्टा की परन्तु इतना बल न था। आखिर चंवर का आश्रय लिया। इस चढ़ाई में कैलाश आँखों से ओझल हो जाता है, लगभग एक मील के लिये। धीरे-धीरे चढ़ाई काटकर घाटे पर पहुँचे। कैलाश बिलकुल ही समीप में दीखता था। कितना विशाल, कितना धवल और कितना वैभव-पूर्ण। हृदय बार-बार झुकता था भावों से और मस्तक भी। आखिर हम कैलाश पहुँच गये। यह कितना उल्लास का विषय था। वह आभा अलौकिक थी, परन्तु हमें तो अभी और समीप जाना था।

इस घाटे से नीचे उतरना होता है, घाटी में। बेढब रास्ता और बहुत ही खड़ा उतार! चंवर पर बहुत ही सचेत होकर बैठना होता है, अन्यथा वह धराशायी कर देता है सवार को। दीखने में थोड़ा, परन्तु उतरने में लम्बा सदैव की भाँति, यही अनुभव था उस रास्ते पर भी।

घाटी में एक नदी बहती है। उसके किनारे-किनारे रास्ता उत्तर की ओर जाता है। नदी के पार, पूर्व दिशा में एक पर्वत की दीवार-सी बहुत ऊँची काली-काली चट्टानों वाली, साथ-साथ चलती है। ऐसा लगता है मानो किसी किले की दीवार हो। उसी दीवार से ऊपर को उठा है, कैलाश पर्वत। जैसे मन्दिर का ऊपरी गोल हिस्सा (डोम) होता है, ठीक वैसा ही दीखता था। वह हिमाच्छादित था। सूर्य पश्चिम में था। उसका प्रकाश तो बादलों में से छन कर आने के कारण, चमचमाहट पैदा नहीं कर रहा था। उस दृश्य में एक कोमलता थी।

परन्तु मेरी तो गति ही विचित्र हुई जा रही थी। मैं ज्यों ही कैलाश पर दृष्टि डालता था, मस्तिष्क में, ऊपर के केन्द्रों में, बड़े वेग से क्रिया होने लगती थी। मैं अर्धचेतन सा हो जाता था। मुझे आँखें बन्द करनी पड़ती थीं। कमर की पीड़ा और जीन के घर्षण के कारण हुआ घाव ही फिर सचेत करते थे। सचमुच ऐसा लगता था – मानो यह सभी अनुभूति स्वप्न में हो रही हो। वह नदी की आवाज, उस ऊँचाई के वातावरण में, बहुत मन्द प्रतीत होती थी और अजीब सी। हवा की सूक्ष्मता का प्रभाव शब्द पर भी पड़ता है। उसमें भी एक निस्तब्धता आ जाती है। धुरों को पार करने में भी मैंने यही अनुभव किया था और पिण्डारी में भी। दायीं ओर सामने कैलाश का धवल-शिखर, सान्ध्य प्रकाश, नदी की वह अलौकिक, मन्द-मन्द गड़गड़ाहट और बाँयी ओर पर्वत की ऊँची खड़ी दीवार पत्थरों से ही सटी हुई थी। रास्ता मृदुल घास से ढका था। बीच-बीच में बड़ी-बड़ी चट्टानें थीं। वह अलौकिक भूमि थी और वह अलौकिक ही दृश्य था।

मातायें बहुत पीछे थीं। हम लोग थोड़ी देर रुके, फिर आगे बढ़े। शरीर थक रहा था और मन भी विश्राम के लिये उतावला था। आँखें पहली गुफ्फा के निशान ढूँढ-ढूँढ़ कर थक गईं। वह घाटी का चलना मील भर रहा होगा परन्तु चार मील से भी अधिक लगा। लगभग 6.30 के हम लोग पहली गुम्फा के नीचे पहुँचे। कैलाश की चोटी वहाँ से सीधे आकाश मार्ग से तीन मील से कम होगी। हम कैलाश के चरणों पर थे।

आगे चलने का प्रश्न ही न था। मैं तो चंवर से उतर कर ढेर हो गया। गुम्फा देखने की न ही उत्सुकता थी और न बल। मेरे लिये तो कैलाश ही सब कुछ था।

मातायें पहुँची। तम्बू लगे। मेरे लिये माताओं ने जल्दी ही बिस्तर बनाया और मैं पड़ रहा। मैं वैसे भी अपने को बालक प्रतीत करता हूँ। परन्तु तब तो मैं अपने को बिलकुल बच्चा ही प्रतीत करने लगा। वह चेतना मुझमें कई दिन तक तो बहुत प्रबल रही, परन्तु जाती-जाती भी स्थायी प्रभाव छोड़ गई।

दवाई लेने का मेरा स्वभाव नहीं। मैं तो अपने रोग को स्वयं जानता था और उसकी अवधि को भी। दवाई लेने से मैंने इंकार किया और कह दिया कि दूसरे दिन प्रातः तक बहुत कुछ ठीक हो जाऊँगा। मेरी बीमारी का इलाज था, घी-खाँड और रोटी-नमक का अभाव। वही किया गया।

हम बहुत ऊँचाई पर थे। नदी की समीपता भी थी और बर्फ की चोटियाँ समीप थीं। 19,000 से अधिक ऊँचाई रही होगी। पानी खूब ही ठण्डा था और हवा भी। जाड़ा खूब हुआ।

(22)

कैलाश की परिक्रमा

कैलाश के सामने वाले पश्चिम पहाड़ की चढ़ाई में एक ग्रामीण मकान सा था। झण्डियाँ लगी हुई थीं। नीचे से तो बहुत छोटा सा दीखता था, परन्तु कुछ बड़ा रहा होगा। वही पहली गुम्फा थी। देखने वालों ने बताया कि उसमें मूर्तियाँ थीं, परन्तु गुर्ग्यम की गुम्फा के मुकाबले में वह कुछ भी न था।

कैलाश की प्रदक्षिणा के लिये यहाँ से दूसरी गुम्फा जाना होता है। आज हमारा उद्देश्य दूसरी गुम्फा ही थी, जो वहाँ से केवल चार मील ही थी। आराम से तैयार होकर हम लोग 8.30 के लगभग

चले होंगे। वह चार मील का, नदी के किनारे-किनारे का रास्ता, कितना रम्य था। कैलाश की छाया हम पर थी। मानो हम शंकर के चरणों में चल रहे हों। एक विचित्र सन्तोष था और अलौकिक शान्ति। प्रातः के बाल-रवि का आतप तो उस समय को और ही दिव्यत्व प्रदान कर रहा था। लगभग ढाई घण्टे में हम वहाँ पहुँचे।

मेरी तबीयत प्रातः खूब अच्छी हो गई थी। बुख़ार थोड़ा ही बाकी था। शरीर भी हल्का हो रहा था। विश्राम के लिये दिन भर मिलने वाला था।

दूसरी गुम्फा नदी तट से इतनी ऊँचाई पर नहीं है जितनी कि पहली। रास्ता भी चवरों के चल सकने लायक था और स्थान भी काफी बड़ा था। अतः गुम्फा में ही डेरा करने का निश्चय हुआ। तम्बू परेड से छुट्टी मिली। तम्बू को खोल कर धूप अवश्य लगवाई गई।

दूसरी गुम्फा, कैलाश की परिक्रमा में, विशेष महत्व का स्थल है। परिक्रमा के पथ में सभी स्थानों की अपेक्षा यहाँ से कैलाश समीपतम होता है। सामने ही दीखने में तो सीधा मील भर होगा परन्तु दो मील तो होगा ही। कैलाश की चोटी चमचमाती है। वह पर्वत की दीवार सी रास्ते में उधर ही समाप्त हो गई थी। यहाँ तो नदी से कैलाश के चरणों तक छोटे पत्थरों की ढाल जाती है, नदी के उस पार; और चढ़ाई भी कठिन न थी। दिल उछलता था वहाँ, ठीक चरणों में पहुँचने को – जहाँ से गोलाकार हिमाच्छादित भाग आरम्भ होता है; परन्तु शरीर में इतना बल न था। इस गुम्फा की चढ़ाई को भी मैं तो चल कर न चढ़ सकता था। चंवर अकेला जा नहीं सकता। घोड़े का प्रबन्ध नहीं था। समय तो था दिन भर का पर लाचारी थी। जिनमें बल था उनको उमंग न थी। आखिर खूब अच्छी धूप में एक फोटो लिया। आज उस स्थान का और उस अपूर्व दृश्य का वही एक मात्र स्मारक है।

दोपहर तो हमें उस घर में जमते-जमते हो गई थी। दोपहर के उपरान्त खाना-पीना हुआ। कुछ कैलाश को देखा। धूप तापी और बाकी समय बिस्तर में जितने कपड़े थे उन्हें पहन कर ओढ़ कर लेटा रहा। वह विश्राम बहुत आवश्यक था।

आन्तरिक क्रियाओं में साम्य आता जा रहा था। कैलाश का भान तो सतत था ही और उसके अधिष्ठातृ चैतन्य शंकर का भी। उसकी समीपता को भी मैं सतत अनुभव कर रहा था परन्तु भीतर बिल्कुल शैथिल्य था। पैसिविटी (passivity) थी, अतः भीतर की क्रियायें बेरोक चलती थीं। आज वह सब सोचने में कितना अजीब लगता है।

यहाँ मुझे तिब्बती लोगों के बारे में एक बात बता देनी चाहिये। वे लोग बहुत गन्दे रहते हैं। जीवन में कभी नहाते हों, यह मुझे पता नहीं। कपड़े भी, कभी धोये जाते होंगे, इसका भी तो विश्वास करना सहज नहीं। हमने तिब्बत में इतने दिन व्यतीत किये परन्तु कभी भी किसी तिब्बती को कपड़े धोते अथवा नहाते नहीं देखा। तोपगे किसी समय सफाई के लिये पानी के पास जाता था, ऐसा मालूम नहीं हुआ।

वैसे तो ज्यों-ज्यों ठण्डे देशों में जाते हैं लोग प्रायः अधिक गन्दे मिलते हैं। कुछ तो इसका कारण ठण्ड ही है। प्रेरणा ही नहीं होती पानी के बरतने की। उसका स्पर्श ही ठण्डक के कारण दुःखदायी होता है। दूसरा कारण, सफाई के मूल्य का अज्ञान भी है।

वहीं पर दूसरी गुम्फा में बाहर, मकान के साथ लगी, टट्टी बनी थी। वहाँ पर मल-ढेर था। उस ठण्डक में भी उससे बदबू आती थी। परन्तु प्रतीत होता था कि न वह टट्टी देखने में किसी को खलती थी, न ही बदबू। शायद भेड़ बकरियों के सतत संग से नाक की शक्ति कम हो जाती है। तिब्बती बकरों की 'बुकरैन' तो अल्मोड़े प्रदेश में प्रसिद्ध है। सफाई करवाये बिना हमारी तो वहाँ गुज़र असम्भव थी।

तिब्बत की गुम्फायें कच्ची ईंटों से बनती हैं, जैसे पंजाब के देहातों के कच्चे मकान। न तो यहाँ पक्की ईंट बनाने के साधन हैं और न फूँकने के। और वर्षा बिल्कुल कम होने से, वे बहुत दिन तक टिके भी रहते होंगे। पत्थर का मकान बनाने में उपयोग हुआ हमने कहीं नहीं देखा। सभी मकान मिट्टी के ही देखने में आये, उस प्रदेश में।

(23)

गौरीकुण्ड की दिशा में

गौरीकुण्ड में स्नान करने के इच्छुक यात्री के लिये रात्रि दूसरी गुम्फा में व्यतीत करनी अनिवार्य हो जाती है। तभी तो हम लोग पहले दिन चार ही मील चल कर रुक गये थे। दूसरी गुम्फा से गौरीकुण्ड बहुत ऊँचाई पर है। मार्ग चढ़ाई का है। प्रातः ही पहुँच कर स्नान हो सकते हैं, अन्यथा वायु तथा वर्षा का भय रहता है।

दूसरी गुम्फा को नन्दीफू भी कहते हैं। जाड़ा उस रात भयंकर था। हम लोग मकान में थे। 14 व्यक्ति एक ही कमरे में सो रहे थे। वायु भी आर-पार न जा सकती थी। अतः रात को जाड़ा नहीं मालूम पड़ा। प्रातः बाहर निकलते ही भान हुआ। पानी के स्पर्श से तो हाथ-पाँव अकड़े जाते थे। हवा भी बर्छियों की तरह लग रही थी मानो शरीर में गहरे घाव करती हों। हम लोग बहुत जल्दी ही दूसरी गुम्फा से चल दिये।

ज्वर मुझे आज भी था ही, यद्यपि कम। 99.5 रहा होगा, परन्तु कमज़ोरी बहुत प्रतीत हो रही थी। मैंने थोड़ी दूर चलने का साहस किया। नदी तक उतरा, फिर कुछ मैदानी रास्ता था, वह भी चला, परन्तु चढ़ाई लगते ही चलने में असमर्थ हो गया। वहीं एक पत्थर पर बैठ कर प्रतीक्षा करने लगा चंवरों की। साथी सभी आगे निकल गये। मैं चंवर पर चढ़ कर आगे बढ़ा।

पर्वतों में दृश्य-परिवर्तन बहुत होता है। दर्शक की स्थिति के थोड़े से बदलाव से भी दृश्य में बहुत परिवर्तन हो जाता है। कैलाश के दर्शन भी नये-नये होते जा रहे थे। हमारे कदम-कदम आगे बढ़ने में, दृष्टिकोण के बदलाव के साथ भिन्न-भिन्न पक्ष आँखों के सामने आते थे – सतत नूतन – मानो अनन्त देव की अनन्त विभूतियाँ आँखों के सामने फिर रही हों। बाल-रवि का प्रकाश तो दृश्य को और भी दिव्य बना रहा था।

गौरीकुण्ड की ऊँचाई 18,500 कही जाती है। कैलाश की चोटी लगभग 22,000 है। हम लोग चढ़ते चले जा रहे थे। लगभग 17,000 की ऊँचाई पर हमने कैलाश की घाटी वाली नदी को पार किया होगा, उस पुल से।

हम लोग आधा रास्ता, अर्थात डेढ़ मील के करीब, आये होंगे कि दाहिनी ओर एक नदी की मन्द कलकल मेरे कानों में पड़ी। उस कलकल में एक विचित्र जादू भरा था। उसका प्रभाव सीधा हृदय पर पड़ता प्रतीत हुआ। दिल बैठने लगा और अंग शिथिल होने लगे। मैंने सोचा, अभी ठीक हो जायगा अपने आप ही, परन्तु वह बढ़ता गया और मेरा बल घटता गया। आखिर यह नौबत आई कि मैं संज्ञाशून्य होने लगा और चंवर पर भी अपने को बैठा न रख सका। तो बाकी बची शक्ति और संज्ञा को समेट मैंने पुकारा, 'जीवन सिंह! जीवन सिंह!! मैं उतरूँगा' वाणी में कम्प था, दुर्बलता लक्षित हो रही थी। मुझमें इतना भी सामर्थ्य न था कि स्वयं उतर जाऊँ। फिर पुकारा 'जीवन सिंह!' वह सहायता को आया। मुझे उतार कर उसने भूमि पर छोड़ा। मैं वहाँ लेट गया। पल भर के लिये संज्ञा विलीन हो गई। और फिर जैसे नींद से जागते हैं, मैं जगा। शरीर पर ठण्डा पसीना दौड़ गया था और शरीर रक्त शून्य-सा प्रतीत होता था। सामने कैलाश की चोटी चमचमा रही थी। उस संज्ञा शून्यता के अनन्तर एक विचित्र सन्तोष हुआ। ऐसा लगा मानो मैं देव के चरणों पर पड़ा हूँ और उसने मुझे अपनी गोदी में उठाया है! बुखार मुझे छोड़ चुका था फिर न लौटने के लिये।

थोड़ी देर विश्राम किया। जीवन सिंह ने बाँह पकड़ी और मुझे थाम कर थोड़ी दूर ले आया। यहाँ सामने धूप थी और साथी रुक रहे थे। मेरे रंग ने, जो पीला पड़ चुका था, उनको बता दिया कि क्या हुआ है? दीदी पछताई कि वह पीछे मेरे साथ-साथ क्यों न आई। बादाम तथा मुनक्कों ने जान में जान डाली। मैं चंवर पर चढ़ने लायक अपने को अनुभव करने लगा। फिर चढ़ा और चल दिया। सभी लोग आगे बढ़े।

इस घटना ने (संज्ञा शून्यता ने) मुझमें एक नूतन चैतन्य की स्फूर्ति कर दी थी। शरीर का भान मुझे बहुत कम था। वह दिव्य भूमि, लगभग 18,000 की ऊँचाई, बगल में कैलाश, प्रवाहित जल की कलकल और वह विशुद्ध वातावरण! मेरा हृदय भाव से भर गया। कैलाश की महिमा का भान हुआ। वह एक बोध था जो अभिव्यक्ति माँगता था परन्तु वहाँ यह सम्भव न था। न मुझमें शक्ति थी और न ही अवसर। लगभग इस घटना के सप्ताह भर बाद जब मैं भारत में प्रवेश कर चुका था और अल्मोड़े के रास्ते पर था, अल्मोड़े से लगभग 130 मील की दूरी पर रात्रि के समय काली नदी के तट पर, जब सभी निद्रादेवी की गोदी में थे, मुझे उसी चैतन्य का भाव फिर प्राप्त हुआ। मैंने अपने को वहीं पाया और लिखा – अंग्रेजी में –

TO KAILASH

Thou Rock of ages!
O stillness! Incarnate!
Speaking the love of Infinite Divinity, You stand
Kailash! O Mount Divine!

The beloved abode
Of Shiva — the Consciousness Divine
Which loves and lifts
Through ages and ages!
Kailash! O Mount Divine!

Without a sight of Thee,
None could know
What pristine purity is and
What sublime beauty — The fullness of splendour
That awakens dreams, and haunts
The seer over years and years.

Thy sight sends a thrill
Through my entire being,
And transports me as naught else has done
It fascinates — nay, bewitches,
And I am lost unconscious
To all that surrounds
And even my very self.

You stand there — The Sentinel
Of ages past and of ages to come,
Drawing to Thee pilgrims
From distant lands, across
The Himalayan ranges,
The snows and winds whispering
Death into their ears —
Yet as under a spell they draw on to Thee
Through the ages.
Kailash ! O Mount Divine !

That nature in her love has consecrated to the Lord,
All majestic and dominating all that is surveyed,
At once lovely and dreadful in thy Supreme grandeur
Silvery dome of the Shivite Temple
To thee, I bow,
Kailash ! O Mount Divine !

Words fail to express my heart.
There is a quaintness and sublimity which eludes the pen.
Kailash is inexpressible like the Shiva — the Infinite Divine !
Kailash is Shiva embodied !
The unseen Deity receives the pilgrims obeisance

And mutely blesses, showering His graces bounteously,
Only a few sensitive hearts feel,
The presence and also the touch
That lifts and deifies, more than
The philosopher's stone, For it bestows the gift of life,

My Love to Him and all reverence!
My Life to Him and all activity!
My heart flees to the mount Divine and its Deity —
The Shamakara — All peace and love — the
Mount of knowledge which lifts and perfects.
My all at the feet of the Lord Divine.

What Seek I?
Only to be His and in fullness
Ever to abide in Him —
To abide in a union where duality is not,
Where I am in Shiva, and Shiva in me.
We are one in twain and two in one.
Nay, closer still where Shiva is
And I am not, as it were.

Shiva, my Lord! I sing to thee
Out of the fullness of heart
That out flows in loveful glee
And in reverence bends to thee.

हिन्दी भाषान्तर

युग युगान्तर के अचल!
हे मूर्तिमयी! निस्तब्धता!

अनन्त दिव्यत्व की भाषा के भाषी,
ओ! दिव्य गिरि शिखर, कैलाश!

तुम हो शिव के प्रिय निकेतन,
उस युग-युग में उत्थान कारिणी
शैवी प्रीतिधन चेतना के –
ओ! दिव्य गिरि शिखर, कैलाश!

बिना तुझे देखे
कौन जान पाये विशुद्ध पवित्रता को
और विशुद्ध सौन्दर्य को
और उस वैभव के पूर्णत्व को
जिसे एक बार ही निहारना स्वप्न बन-बन कर
दर्शक को उत्कण्ठित करता है,
वर्षों और वर्षों तक।

तेरे दर्शन से ही मेरे गात में
एक लहर दौड़ गई,
तुम्हारे उस प्रथम दर्शन ने मुझ पर जादू सा डाला।
मैं आत्मविस्मृति के गर्भ में लीन हो गया,
और सभी कुछ मेरे चैतन्य पटल से मिट सा गया।

अतीत युगों और आगामी युगान्तरों के
सन्तरी बने तुम खड़े हो।
अति दूर प्रदेशों से यात्रियों को तुम खींचते हो,
उन घाटों के भी पार जहाँ मृत्यु का सन्देश लिये बर्फ रहती है
और पवनें चलती हैं,
तेरे मोह-मन्त्र से बँधे यात्री चले ही आते हैं,
युग युगान्तरों से, तेरी ओर।
शैव मन्दिरों के रजतमय शिखर!

प्रकृति ने प्रभु प्रीति से तेरा निर्माण किया है।
तेरी आभा महान् है, और शोभा भी,
चारों ओर तेरा ही साम्राज्य है।
एक दम से तुम रम्य हो और भयावह
तुमको मेरा नमस्कार!
ओ! दिव्य शिखर कैलाश!

बेचारे शब्द मेरे हृदय भावों को कहें तो कैसे?
तेरी महिमा और तेरा वैचित्र्य – दोनों लेखनी से परे हैं।
शिव की भाँति कैलाश भी वाणी के अगोचर है।
कैलाश मूर्तिमान शिव ही तो है।
वह अदृश्य देव! यात्री के प्रणाम को स्वीकार करता है,
मौन ही वह आशीष देता है, और
औढ़रदानी झोली भर देता है।
कुछ संवेदनशील हृदय ही उसकी सत्ता को अनुभव कर सकते हैं।
और उसके स्पर्श को भी।
स्पर्श तो दिव्य कर देता है और जीवन भी देता है
पारस तो सोना ही बना सकता है।

मैं अपनी श्रद्धा तथा प्रीति उसे अर्पण करता हूँ।
मेरा जीवन तथा अखिल चेष्टायें उसी के चरणों पर।
मेरा हृदय उमड़ता है कैलाश के प्रति
और उसके अधिष्ठातृ देव शंकर के प्रति
प्रीतिमय तथा शान्तिघन, शमकर।
उत्थापक तथा पूर्णत्व प्रदायिनी चेतना!'
मेरा सर्वस्व उसी आदि-गुरु को अर्पित है।

मैं चाहता क्या हूँ?
केवल मात्र,
उसका हो जाना, और
पूर्णरूपेण उस ही में निवास करना।

ऐसा मिलन जिसमें द्वैत की गन्ध भी न हो।
जहाँ मैं शिव में होऊँ और शिव मुझ में
दो होते हुए भी एक हों हम
और एक होते हुए भी दो –
नहीं, नहीं और निकट जिसमें शिव ही शिव हो –
केवल शिव हो, मैं न हूँ।

भक्तिभाव से मस्त हुआ,
मैं गान, देव! यह गाता हूँ;
श्रद्धा से कर शिर अवनत, मैं
शरण तेरी शिव! आता हूँ।

(24)

वह दिव्यस्थल

हम धीरे-धीरे वह चढ़ाई चढ़ते चले गये। एक पहाड़ हमारे तथा कैलाश के बीच में आता चला जा रहा था, जैसे-जैसे हम गौरीकुण्ड की ओर रास्ता चलते थे। वहाँ पत्थर ही पत्थर थे छोटे और बड़े। उन्हीं पर से होकर रास्ता जाता था और रास्ते पर कई स्थलों पर पानी की छोटी-छोटी धारें भी बहती थीं। बहता पानी ऊपर से बर्फ हो जाता था और चंवरों तथा आदमियों के पाँव पड़ने से वह चर्र-चर्र करती हुई चूरा हो जाती थी। ठण्डक की इससे पूरी कल्पना की जा सकती है।

गौरीकुण्ड के पास इधर ज़रा तेज़ चढ़ाई लगती है, लगभग आधे मील की और यहीं पर कैलाश की उज्ज्वल चोटी भी उस पर्वत के पीछे छिप जाती है। मन ही मन कैलाश को नमस्कार करते हुए विदा लेकर हम आगे बढ़े। वहाँ पर पर्वत सभी चकना चूर हुई चट्टानें हैं। पत्थरों के ढेरों के ढेर हैं और कई स्थलों पर ऊँचाई में और गहरे

में जहाँ धूप कम आ पाती है, हिमशिलायें दिखाई पड़ती हैं। इस वर्ष तो जाड़ों में बर्फ बहुत ही कम पड़ी अन्यथा यह सारा रास्ता – दूसरी गुम्फा से गौरीकुण्ड तक का – बर्फ से पटा रहता है।

आखिर हम उस घाटे पर पहुँच गये। वहाँ पर एक विशाल शिला थी, पताकायें लगी हुई थीं और एक रस्सी पर कितने ही रंगबिरंगे चिथड़े बंधे थे और ऊन भी। इसी के नीचे समीप ही गौरीकुण्ड है। वहाँ से वह दिखाई नहीं पड़ता।

तिब्बतियों के लिये तो आजकल गर्मियाँ हैं। वे बर्फों में जीवन व्यतीत करने वाले, आज कल के जाड़े को क्या समझते हैं? हमारे रास्ते में ही तो एक तिब्बती हमें मिला था। उसने अपने कोट से एक बाँह निकाली हुई थी, जिससे उसकी छाती और शरीर के कुछ भाग खुले हुए थे। उन पर वह धूप तो पड़ रही थी लेकिन ठण्डी हवा भी। वह अपना अंगूठा मुँह की ओर ले जाता और इशारे से हमें कुछ कहता था – वह खाने को माँग रहा था। वहाँ माँगने का यही तरीका है – अंगूठा दिखाते हैं! उसके दूसरे हाथ में भाला सा था। अस्तु।

उस स्थान पर ज़रा देर विश्राम कर, सभी लोंगों के आ पहुँचने पर हम नीचे उतरे। ज़रा सा ही जाने पर गौरीकुण्ड दृष्टिगोचर होता है। सचमुच वह दिव्यस्थल प्रतीत होता था। मानो देवताओं ने अपने रमण के लिये ही वह सर बनाया हो। भले ही मानसरोवर की तुलना में वह कुण्ड सा लगता हो, परन्तु वास्तव में वह सर है, झील है। कुण्ड कहना तो उसका तिरस्कार करना है। धीरे-धीरे हम पानी के किनारे पहुँचे। पूर्वी तट ही हमने बैठने के लिये चुना।

जल स्फटिक की भाँति निर्मल था और उस पर बीच में बर्फ की पतली धवल चादरें तैर रही थीं। वह देखने में बिल्कुल चादरें सी थीं, मानो किसी दर्जी ने सीधी रेखायें काट दी हों। उस जल में, बाल-रवि की रश्मियों से आलोकित, काली-काली शिलाओं की पृष्ठ भूमिका में, जो सामने वाले पर्वत का अंग थी, उन हिम की चादरों की धवलता कई गुणा हो गई थी। वहाँ का वातावरण, अछूती पवित्रता को प्रगट कर रहा था। 18,500 फीट की ऊँचाई में

वायु कितनी विशुद्ध तथा पतली होती है। वहाँ पूर्ण निस्तब्धता थी। समीप में उस घाटे के दूसरी ओर ऊँचे और खड़े पहाड़-दीवारें-सी बने थे, उस सरोवर के लिये। वह विशाल था। उसकी लम्बाई जो पूर्व-पश्चिम थी, एक फर्लांग के कुछ ही कम हो शायद, और चौड़ाई तीन-चौथाई रही होगी।

वहाँ पहुँचते ही मन आह्लादित हो उठता है। एक कृतकृत्यता का सा भान होने लगता है। ऐसा प्रतीत होता है कि हम देवभूमि में आ गये हैं। कभी कोई यहाँ आता होगा, इसका भान हमें तो नहीं हुआ। संसार की दृष्टि से, मानव के दूषक-स्पर्श से, और किसी प्रकार के हीन संकल्प से, यह स्थल सर्वथा वर्जित है।

मेरा हृदय तो जगज्जननी महाशक्ति की ओर उमड़ उठा। वह सचमुच 'पार्वती चेतना' है। पर्वत उच्चता का सूचक है। वह माता होते हुए भी सतत कन्या है, अस्पृश्य पवित्रता है। वह सदैव सती है। और वह शैवी है। यह सर तो उसी के योग्य है। उसमें नहाना, इसका स्पर्श करना, मातृ-चेतना से ओतप्रोत होना है। माँ के दुग्ध को पानकर, स्तनों से, जैसे बालक छक जाता है, वैसे ही तो मैं भी आज इस जल के स्पर्श से, इसके मार्जन तथा पान से उस चेतना से आप्लावित हो जाऊँगा! माँ की कृपा तो मुझ पर है परन्तु आज उसके अतिशय का अनुभव होगा। इस भावना में कितना सन्तोष है, और कितना गम्भीर अर्थ छिपा है।

वहाँ उस समय वायु भी वेगवती न थी। मन्द समीर मात्र था। आठ बजे का समय था। आकाश निर्मल व नील था। सूर्य न अतितीक्ष्ण प्रतीत होता था, न मन्द। धीरे-धीरे लोगों ने स्नान का आयोजन किया। मैंने डुबकी लगाना उचित न समझा। कपड़े खोल कर उस जल को शरीर के अंग-अंग पर डाल करके, धोता गया। कैसा शीतल था और कितना प्राण से पूर्ण। नहाते-नहाते नया जीवन आ गया शरीर में और मानो नया आलोक अन्तरात्मा में।

कुछ देर के लिये मौन हो गया मैं। लोग भी अपना-अपना प्रातः कृत्य करने लगे। फिर कर्पूरी लाल जी को मैंने स्तोत्र पढ़कर सुनाने

को कहा। उसके उपरान्त मेवा बाँटा गया। सभी ने सहर्ष स्वीकार किया और कुछ गुड़-पापड़ी भी खाई। अब आगे जाना था।

आज भी वह दृश्य मेरी आँखों के आगे आता है तो हृदय भाव से भर जाता है। वह अछूती पवित्रता, वह शान्ति, वह निस्तब्धता और गौरीकुण्ड का वह सौन्दर्य! उन ऊँचाइयों पर, चट्टानों में निर्मल जल और वह हिमखण्ड आज भी हृदय को उछाल देते हैं। वहाँ पर बिताये हुए कुछ पल स्वप्न की सी घटना लगते हैं। वह सभी दिव्यत्व का ठाठ था, मानो स्वर्ग का एक अंश वहाँ लाकर रख दिया गया हो!

थोड़े ही भाग्यशाली व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनको ऐसा मौसम गौरीकुण्ड पर मिलता है। प्रायः वेगवती वायु होती है और वर्षा भी। प्रायः गौरी सर, सारे का सारा, बर्फ से ढका रहता है। उस बर्फ को फोड़ कर नहाना होता है। इस प्रकार के सुन्दर अवसर के लिये हम कितने अनुग्रहीत अनुभव कर रहे थे।

(25)

दर्चिन की ओर

अब हमें साँझ तक दर्चिन पहुँचना था। चौथी गुम्फा के नीचे कैलाश पर्वतमाला के चरणों पर। दर्चिन एक छोटी सी तिब्बती मण्डी है। वहाँ उस प्रदेश का एक राजा भी रहता है, मकान में, तम्बू में नहीं। रास्ते में तीसरी गुम्फा भी पड़ने वाली थी।

गौरीकुण्ड से ज़रा ऊपर चढ़ने के बाद, रास्ता एकदम से नीचे घाटी में जाता है। वह ऊँचाई जो हम तीन मील में आये थे, लगभग एक ही मील में उतरनी होती है। पिछले वर्षों तो इस रास्ते में भी बर्फ रहती थी और उतरने में बहुत कठिनाई होती थी, परन्तु हमें तो यह रास्ता साफ मिला। हम लोग थोड़ी ही देरी में नीचे आ पहुँचे।

सामने एक दूसरी ऊँची पर्वतमाला थी। काले-काले पत्थर थे। घाटी के मध्य में कलकल करती निर्मल-जलवाहिनी एक नदी थी। इसके दाहिने किनारे एक रास्ता था और प्रायः रास्ते पर छोटी-छोटी घास थी। उस घाटी में भेड़ें चर रही थीं, नदी के पार की ओर।

गौरीकुण्ड का मुझ पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि मन में संकल्प जागृत हुआ कि इन अनुभूतियों को लेखबद्ध करना चाहिये। सोचा कि किसी मित्र के नाम एक पत्रों का सिलसिला जमकर लिख डालूँगा। किस दृष्टिकोण से लिखूँगा, यह भी स्पष्ट हो गया। यह वर्तमान लेखमाला उसी संकल्प का फल है। मैं सोचता था कि इन अनुभूतियों को फिर चेतन मन में जागृत करना और अंकित करना कितना आनन्दप्रद होगा। अब अनुभव करता हूँ कि वास्तव में यह आनन्दप्रद है!

कैलाश हमारे दाहिने को था, परन्तु ऊँचे-ऊँचे, काले-काले, पथरीले पहाड़ हमें, उसे देखने से रोकते थे। वह बिदा जो हमने गौरीकुण्ड से पूर्व ही ली थी, अन्तिम बिदा थी। अब फिर कैलाश उतनी समीपता से, उतनी विशालता तथा वैभव में न दीखेंगे! वह तो बस 7-8 मील की ही लीला थी। अब दीखेंगे तो सही, परन्तु दूरस्थ, छोटे से, उस विशाल भूभाग के एक अंश मात्र, यद्यपि उतने ही प्रभावशाली।

घाटी में आते ही वह तनाव जो आन्तरिक क्षेत्र में कैलाश के सम्मुख रहने में प्रतीत होता था, अब चला गया। वह तनाव तो गौरीकुण्ड पर भी न था। वहाँ तो शीतलता थी, जैसे कि माता की गोद में दुबकने से होता है। कैलाश के सामने तो आन्तरिक तीव्रता, मानो पिता के सामने का भय हो। अब ऐसा लगता है कि कैलाश की ओर पीठ हो गई और वास्तव में आगामी सारे रास्ते में, जहाँ भी कैलाश दृष्टिगोचर होंगे, हमारी पीठ की ओर ही रहेंगे। हम उनके विमुख चला करेंगे।

इस घाटी का रास्ता बड़ा ही रम्य था। हरी-हरी घास तिब्बत में देखने को मिले तो सौभाग्य ही है। जल के छोटे-छोटे नाले पर्वत से भी आते थे। हमारे रास्ते को काट कर उस घाटी की प्रधान नदी में मिल जाते थे।

मैं अब पूर्ण स्वस्थ था। आन्तरिक क्रियाओं में भी अब वह तीव्रता न थी। बुखार ने मुझे तभी छोड़ दिया था, परन्तु कमज़ोरी बहुत थी, जो आगामी 4-5 दिन तक बनी रही और तकलाकोट से परे लिपुलेक घाटे तक मुझे सवारी का आश्रय लेना पड़ा। मैं चंवर पर चल रहा था। चंवर जैसे बेढब जानवर भी अपने सवार को पहिचानने लगता है। उसके चढ़ने और उतरने के लिये वह रुक जाता है। सबसे अधिक कठिनाई चंवर की सवारी में होती है, चंवरों की इकट्ठे एक ही पंक्ति में चलने की आदत से। वह बीच में घुसता है और दूसरे चंवरों पर लदा हुआ सामान सवार की टाँगों पर चोट करता है, कभी-कभी तो घायल भी कर डालता है। अतः सजग रहना आवश्यक है। लाठी के बिना इस मुसीबत का कोई इलाज नहीं। आज तोपगे में भी बड़ी स्फूर्ति थी। उसके हाथ में माला अनवरत चल रही थी। वह उसे लटकाये हुए चलता था, होंठ हिलाता हुआ। जैसे चंवरों को उसने आज हाँका, वैसा कभी न हाँका, सारे रास्ते में।

रास्ते में अनेक स्थलों पर मधुर, शीतल जल पीया। पेट की क्षुधा का भी आंशिक निवारण हुआ। आँखें तीसरी गुम्फा पर लगी हुई थीं। प्रतीक्षा रास्ते को और लम्बा कर देती है। वहाँ तीसरी गुम्फा पर आराम करेंगे और कुछ खायेंगे, यह आशा ही बहुत से हृदयों को उद्वेलित कर रही थी। स्वामी जी तथा गोविन्द वल्लभ बाकी सबसे ज़रा आगे-आगे कदम बढाये जा रहे थे। लगभग 12 बजे हम तीसरी गुम्फा के नीचे पहुँचे। सामने की चोटियों पर मण्डराते हुए बादल के टुकड़े बड़े प्यारे लगते थे और कहीं-कहीं दीखने वाली हिम की शिलायें भी, चोटियों के समीप ही।

हम लोग बैठे ही थे कि इतने में एक तिब्बती भिखारी वहाँ आ गया। उसके पास एक बहुत सुन्दर चमकीले रंग के कपड़ों वाला छाता सा था। उससे अनेक प्रकार के पत्थर से लटक रहे थे। सूरत भी उसकी अजीब थी। वह बूढ़ा था, लम्बा-सा मुँह था और अद्‌भुत तरीके से, दन्त विहीन मुँह से पुपलाता था, 'ओई मनि पेमें हूँ।' पास ही पानी बह रहा था। पानी लाया गया और सत्तू माँडे गये। उसको भी दिये। मैं उसकी फोटो लेने की सोच रहा था। विचार था कि

तोपगे और इसकी एक साथ ही खींचें। परन्तु जब उसे प्रतीत हुआ कि मैं फोटो लेने वाला हूँ तो प्रलोभन देने पर भी वह न रुका। वहाँ से चला ही गया।

धूप इस समय तक तेज़ हो गई थी। सिर को छाते की छाया में रखकर मैंने तो ज़रा विश्राम किया। खाने की रुचि न थी। आधा घन्टे के बाद हमने रास्ता लिया। मुझे तो गुम्फा देखने की न रुचि थी और न ही हाल। माताओं ने गुम्फा देखी और तोपगे ने वहाँ के लामा के साथ चाय उड़ाई।

यहाँ से रास्ता दूसरा ही रूप धारण करता है। हम पर्वत की ढाल पर किनारे-किनारे चलने लगते हैं। नीचे बायीं ओर गहरा हो जाता है। नदी भी नीचे ही नीचे बहती है और अधिक वेगवती व मैली हो जाती है। अब पहाड़ों में मिट्टी भी दीखती है। वह जलने वाला झाड़ डामा भी दीखने लगता है। हम लोग काफी नीचे उतर चुके थे। वातावरण भी सामान्य तिब्बत का सा हो जाता है। पर्वत के कोने से घूमकर हम पश्चिम को चलने लगते हैं। कैलाश पर्वतमाला हमारे दाहिने को ही रहती है। रास्ता बिल्कुल पत्थरों से पटा है। सामने ही तम्बुओं का नगर दीखने लगता है। एक मिट्टी का मकान भी है उस पर पताकायें फहराती हैं। धीर-धीरे चलते हुए हम इन तम्बुओं के समीप आ जाते हैं। यही दर्चिन की प्रसिद्ध मण्डी है।

हमने परिक्रमा के कुल 23 ही मील पार किये थे। ऐसा ही वहाँ का रिवाज है। दर्चिन से पहली गुम्फा जाना नौ मील होता है, परन्तु उसमें कोई रुचि वाली बात प्रतीत नहीं होती। आश्चर्य की बात है कि तिब्बती लोग परिक्रमा एक ही दिन में कर डालते हैं। हमें ऐसे कुछ व्यक्ति मिले भी। परन्तु ऐसी जल्दी से की गई परिक्रमा कुत्ते की परिक्रमा कही जाती है। अर्थात् हीन दृष्टि से देखी जाती है। सबसे महत्व की परिक्रमा तो वह समझी जाती है जिसमें यात्री लेट-लेट कर भूमि को मापता चला जाता है। तिब्बती लोग ऐसा भी करते हैं किन्तु हमें कोई ऐसा करने वाला नहीं मिला।

❖ ❖ ❖

(२६)

दर्चिन की मण्डी

पास ही एक नदी बहती है। पुल से नदी पार कर मण्डी में प्रविष्ट होते हैं। नीचे बस्ती के दक्षिण कोने पर एक स्थान डेरा करने को ढूँढ़ा गया। पानी पास ही था। वहाँ पर भेड़ों और बकरियों की मींगने, अस्थियाँ तथा चंवरों का मैला बिखर रहा था, परन्तु और स्थानों से अच्छा जानकर वहीं पर तम्बू लगाये। जो हो सकी, थोड़ी सफाई कर ली गई।

तोपकू में हमने मण्डी का पूर्वरूप देखा था। वहाँ भोटियों के तम्बू लगे थे। 2-4 दुकानें थीं और तिब्बती लोग दीखते थे। दर्चिन तो पूरी मण्डी थी। भोटियों की दुकानें थीं अनेक और हूणियों की भी दुकानें थीं। तम्बू लगे हुए थे। उनमें तरह-तरह के सामान थे। कपड़ों के ढेरों के ढेर थे। वे वस्त्र जो भारत में आज प्राप्त नहीं होते, भोटियों को तिब्बत में व्यापार के लिये मिले थे। ऊनी कपड़े थे और खालें भी थीं, बिसात का भी सामान था – साबुन, तेल, कंघे, शीशे आदि। परन्तु दुकानों के चारों ओर जिधर देखें मैला ही मैला था। भेड़ों की मींगने तो वहाँ मैले में गिनी ही नहीं जाती और न ही हड्डियाँ। ऊन के टुकड़े भी तो वहाँ किसी बुरी निगाह से न देखे जाते होंगे। भेड़ तथा बकरी का दिया ही तो आखिर वे लोग खाते हैं।

हम लोग काफी दिन रहते वहाँ पहुँच गये थे। अतः तम्बू लगते ही मण्डी देखने चले गये। पहला विचार था, आटे की प्राप्ति का पता करना। सो वह गोविन्द वल्लभ तथा स्वामी जी ने ही कर रखा था। आटा प्राप्त था। यह बड़े सन्तोष की बात थी। भाव लगभग आठ छटाँक रुपये का। चावल भी मिलता था परन्तु इससे कहीं मँहगा। एक दूसरी बात भी मस्तिष्क में घर कर रही थी – तिब्बत से भाग निकलने की।

कैलाश तथा गौरीकुण्ड देखने के उपरान्त व्यक्ति अपने को कृतकृत्य समझता है और तिब्बत से भाग निकलने की धुन सवार हो जाती है। अपनी हालत की ओर देखकर ही जी उतावला होता है। इतने दिनों से चलना ही चलना। रात को भी वही स्वप्न! तन की दुर्दशा उस ठण्डे में और कपड़े भी तो गन्दे। कई दिन तक धोने को अवसर ही नहीं, और तिब्बतियों से संसर्ग; और वह पैशाचिक सी भूमि जिसमें व्यक्ति की गति ही बिगड़ जाये। ये सभी बातें व्यक्ति को प्रेरित करती हैं, उद्देश्य के पूरा होते ही कि इस भूमि से जल्दी से जल्दी निकल जायें। कैलाश के दर्शन तथा गौरीकुण्ड का स्नान! यही तो उद्देश्य था। मानसरोवर तो रास्ते में मिलेगा ही। और भी कतिपय कारण थे जिससे मैं चाहता था कि और न हो तो कम से कम मैं तो माताओं को लेकर सीधा तकलाकोट चल दूँ। मातायें भी तैयार हो रही थीं। उनके मन में कुछ दुविधा भी थी कि गोविन्द वल्लभ आदि का साथ कैसे छोड़ें। कर्पूरी लाल मेरे साथ आने को तैयार थे और नरेन्द्र भी। वे तो और कारण से भी जल्दी में रहे होगें। अस्तु, मण्डी में चंवर के लिये खोज की गई। हमारा प्रोग्राम चंवर मिलने पर निर्भर था। चंवर वाला तकलाकोट के लिये 20 रुपये से अधिक बताने लगा – एक चंवर तथा एक आदमी का। इसके लिये कोई न तैयार न था।

मैंने यह बात गोविन्द वल्लभ के कान में डाल दी थी। वे भी हमारे इधर सीधा चले आने में सहमत से थे, परन्तु जब हम इस प्रकार बिना प्रबन्ध किये लौटे तो वे कहने लगे, 'सुनिये तो, यदि सभी लोग सीधे तकलाकोट चलें तो कैसा हो? तोपगे को ही वहाँ ले चलेंगे, और इसने तो कहा भी था।' मैंने कहा, 'यह और भी प्रसन्नता की बात है सभी कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं।' रुपये का प्रबन्ध वहाँ हो ही सकता था। कल्याण सिंह, तोपकू वाले का लड़का वहीं पर दर्चिन में था।

ज्ञानिमा जाने के लिये मुझे ही उत्सुकता हो रही थी और गोविन्द वल्लभ को भी। नरेन्द्र तथा कर्पूरी लाल को विशेष उत्साह न था। स्वामी जी की अपनी कोई विशेष रुचि न थी। तिब्बत के इतने

भ्रमण ने तथा दर्चिन की मण्डी के वध-स्थल के दर्शनों ने हमें भर दिया था। 'ज्ञानिमा अपने आप रहती है।' हमने व्यापार तो कोई करना न था। यह हमारी दिशा में महत्वपूर्ण परिवर्तन था और हर प्रकार से बहुत अनुकूल भी।

रात को जीवन सिंह से चर्चा हुई। कल्याण सिंह के लड़के को बुलाने का प्रबन्ध किया गया। तोपगे से बात चलाने का ढंग सोचा जिससे उसके साथ सौदा सस्ता पट जाये। कल तथा परसों का दिन हमारे पास था, परन्तु फैसला जल्दी ही होना आवश्यक था अन्यथा हमें लाचार होकर ज्ञानिमा जाना पड़ सकता था। सभी के दिलों में एक हलचल थी; एक सन्तोष सा भी।

उस शाम आगे के लिये आटा खरीदा गया। एक स्थानीय व्यक्ति के साथ दीदी आटा लेने गई। उसने मुझे बाद में बताया कि जिन करवचों में से आटा दिया गया था, उस तिब्बती ने ठीक उसके ऊपर ही नई कटी भेड़ के अंग टाँग रखे थे और उनसे टप-टप खून की बूँदे टपकती थीं। करते क्या? वह आटा न खाते तो भूखों मरते। 10 रुपये का 5 ही सेर मिला और न जाने कब का पिसा। भेड़ के बाल तो वहाँ सर्वव्यापी ही ठहरे। ऊन के ही करवच थे, न जाने रोटियों में कितने खाये होगें। रात के समय दीखते भी तो नहीं।

तिब्बती खूँखार होता है। वह तिब्बती दुकानदार हमारे डेरे पर आकर भाव ठहरा गया था। दुकान पर जाकर बिगड़ गया और मँहगा दिया। जब मैं पूछने गया तो लाल-पीला होने लगा, मानो खूखरी से खून कर देगा। वहाँ पर लाचारी भी तो होती है।

तोपगे तो अगले दिन बर्खा तक ही जाना चाहता था। वहाँ से वह स्थान आठ मील ही होता है। आगे मानसरोवर वहाँ से लगभग नौ मील रहता है। अतः चलने में कोई विशेष जल्दी न की गई। प्रातः सामान बाँधकर हम बैठे थे जब एक तिब्बती ने आकर कहा, 'दूध चाहिये तो मिल सकता है।' वह तो भाव बता कर गायब हो गया। सामने ही एक तिब्बती का डेरा था। कई एक गायें वहाँ बँधी थीं। स्त्री दूध निकाल रही थीं। मैं वहाँ जा पहुँचा। दूध के लिये पूछा। वह भीतर से अपनी लोहे की करछी उठा लाई। डेढ़ छटाँक

की रही होगी। दिखाकर कहने लगी, 'आठ आने में एक मिलेगी'। हम दूध के लिये इतने व्याकुल तो थे नहीं जो लेते।

तोपगे और जीवन सिंह भी अपना सामान बाँध रहे थे। उनकी प्रतीक्षा में और भी देर हुई। चलते-चलते आठ बज गये।

(27)

मानसरोवर की ओर

चंवर हाँके गये और हम चल दिये। हमारे सामने एक बहुत बड़ा मैदान था। दूर आकाश में मान्धाता अपना हिमाच्छादित सिर उठाये खड़ा था और उसकी बेटियाँ भी। मान्धाता पर्वतमाला बड़ी विशाल है। बर्फ से उसकी ऊँचाई का भी अनुमान होता ही था। हम उसी ओर बढ़े चले जा रहे थे।

दर्चिन से थोड़ी दूर आने पर हमें कैलाश के फिर दर्शन हुए। अब वह हमारे पीछे थे। बहुत देर तक देखने का अवसर भी न था। अब उस प्रकार का प्रभाव भी प्रतीत न होता था। 'हो गया' की सी भावना प्रबल थी। हम आगे बढ़ते चले जाते थे।

इस मैदान में कई स्थानों पर घास होती है, जल भी बहता है। यहाँ पर तिब्बती लोग अपने जानवर ले आते हैं। विशेष कर रास्ते के दाहिनी ओर उनके तम्बू दीखते थे।

तोपगे से जीवन सिंह ने चर्चा की थी, परन्तु उसका वाँछित प्रभाव न हुआ था। तोपगे तो ऐसी बातें कर रहा था, जितना हम देने को कभी तैयार न होते। हमें तोपकू वाले किस्से की स्मृति अभी बाकी थी कि किस प्रकार कल्याण सिंह ने तोपगे से सौदा बनाया था 50 रुपये से 23 रुपये पर। स्वामी जी के परिचित एक व्यापारी, दर्चिन से पाँच मील की दूरी पर, एक मण्डी में थे। वह हमारे रास्ते में पड़ती थी। इसी आशा पर हमारा नया कार्यक्रम अवलम्बित था कि वह हमारा सौदा ठीक कर देगा।

चलते-चलते हम वहाँ भी आ पहुँचे और भोटिये को ढूँढा। वह मिल गया। उससे बातें हुईं। तोपगे को बुलाया गया और बातचीत चलने लगी। उनकी बोलचाल को तो हम समझ न सकते थे परन्तु यह तो समझते थे कि कैसे खींचा-तानी चल रही है। वह भोटिया तोपगे से पूर्व परिचित प्रतीत होता था। खींचखाँच कर लगभग 30 रुपये और देने पर तय हो गया साथ ही उसी दिन मानसरोवर पहुँचने के लिये उसने तोपगे को आसानी से राजी कर लिया। मैं तो विस्मित था। सचमुच भोटिये, हूणियों के गुरु होते हैं। हूणियों का बस चले तो यात्रियों को लूट लें, हर तरीके से, कुछ माँग कर, व्यापार में और कुछ डाका डाल कर या जबरदस्ती करके। धन्य हैं ये भारतीय व्यापारी जिन्होंने इन्हें साध रखा है।

दीदी को मेरा बहुत ही ख्याल रहता था। वह मुझे आँखों से ओझल न होने देती थीं। गौरीकुण्ड से पूर्व के अनुभव ने उसे बहुत सचेत कर दिया था। अन्न की ओर बिलकुल अरुचि थी। सत्तू देखने को भी इच्छा न होती थी। कमज़ोरी अभी तक भी बहुत थी। थोड़ा चलने से शरीर थक जाता था। टाँगें काँपने सी लगती थीं और फेफड़ों में थकावट प्रतीत होने लगती थी। दीदी की देख-रेख ने ही मुझमें चंवर पर चलने का सामर्थ्य दिया था। आज भी मैंने थोड़ा चलने की चेष्टा की थी परन्तु उसका प्रभाव बहुत बुरा रहा।

स्त्री तो स्वभावतः ही माँ है। उसमें कोमलता, दूसरे के सुख की चिन्ता तथा आत्म-त्याग सहज है। प्रीति से वह झट द्रवित हो जाती है। दीदी के त्याग को; उसके विशुद्ध उच्च भाव को देखकर, उसके रसोई के काम में हम सभी को खिलाने के प्रयास का चिन्तन कर, और उसकी सरल मृदुता का विचार कर मेरा मस्तक झुक जाता है। वे अशिक्षिता होते हुए भी इस उच्च शिक्षा से संयुक्त हैं जो शिक्षितों में भी दुर्लभ है। और न कोई शिक्षालय उस प्रकार का पाठ ही पढ़ाते हैं। उसकी प्रीति भी अनुपम सी है। मैं तो सचमुच यही समझता रहा कि महामाया ही – 'माँ' ही इस रूप में हमारे संग चल रही हैं, और मैं उसके निकट अपने को बिलकुल बच्चा सा प्रतीत करता था। भूख लगने पर उसे ही पुकारता था, 'है कुछ

दीदी' और हमेशा ही उसकी पोटलियों में से कुछ न कुछ मिल ही जाता था। उसमें भी विचित्र ही होता था। वह भी मुझे इस दृष्टि से देखती हैं, यह उसने अपने मुँह से भी तो कहा ही था। मेरी संगति ही उसकी वर्तमान कैलाश-यात्रा के लिये प्रधान प्रेरक थी।

हम उस मैदान में चले जा रहे थे। कहीं-कहीं घास, विरली-विरली उगी हुई, उन डामा की झाड़ियों के आस-पास और बीच-बीच बहुत सुन्दर प्रतीत होती थी। दूर देखने पर लगता था, वह स्थान घास से ढका होगा परन्तु पास पहुँचते-पहुँचते सामान्य ही होता था। उस दिन बादलों ने हमारे रास्ते भर छाया कर रखी, कहीं ही कुछ पलों को सूर्य की किरणें लगी होंगी दोपहर भर, और वह मेघों में से छन कर आईं, नहीं तो उस मैदान में धूप से हम व्याकुल हो जाते।

दोपहर को एक मन्दवाहिनी नदी के तट पर, उन दलदलों के पार हम लोगों ने सत्तू खाया। नरेन्द्र की पानी के बारे में नजाकत वहाँ भी देखी ही थी। न जाने कितनी बार बेचारा पानी के गिलास भर कर लाया होगा। और उसी दिन ही तो जब मैं पैदल चला था तो उस मण्डी से निकलते ही नरेन्द्र को चंवर ने बुरी तरह से गिराया था। पानी की एक खाई थी। 7-8 फुट चौड़ी रही होगी। चंवर ने छलाँग लगा दी। नरेन्द्र सचेत न थे। लुढ़के, पाजामा भीगा और कन्धे पर पड़े हुए कोट ने तो स्नान कर लिया। उस मुंस्यारी वाले भोटिये को तो रोज एक बार चंवर से गिरना होता था।

मध्यान्ह के बाद दूर, राक्षसताल दीखने लगा। पहले तो किनारा ही दीखता था। यहाँ से रास्ता छोटी-छोटी पहाड़ी ढालों से होकर जाता है। यही दृश्य में परिवर्तन है और यही टाँगों को ज़रा आराम भी देता है उस मैदान की चलाई से। पाँच बजते-बजते मानसरोवर हमें दृष्टिगोचर हुआ। और जल्दी ही कुछ मिनटों में हम उसके किनारे जा पहुँचे।

मानसरोवर के तट से पश्चिम की ओर एक टीला है – नंगे पर पत्थर हैं। उस पर एक गुम्फा बनी है। स्वामी जी तथा इंजिनीयर साहब उधर को गये। उसी के नीचे वह जल मार्ग है जिससे मानस

का जल बढ़ जाने पर बह कर राक्षसताल में जाता है। आज कल तो वह सूखा था।

मानस-तट पर जितना जल के समीप जाया जाये, उतनी ही भूमि साफ मिलती है। भेड़ों और बकरियों की मींगने तो प्रायः सभी स्थलों को गन्दा किये रहती हैं। भेड़ों वाले उधर डेरे डाला करते हैं। तोपगे ने वहीं कहीं सामान डाल दिया। वहाँ खूटे गाड़ने में बहुत मुश्किल पेश आती है। भूमि सभी कंकर पत्थर ही है। तम्बू गड़ ही गये।

मैं तो सीधा मानस-तट पर आया। उस आती हुई सन्ध्या के प्रकाश में मानस, मन्द, पवन तरंग से खिल सा रहा था। मन्द हासी था और उस पर सफेद छोटे-छोटे कारण्डव (जल कुक्कुट) जल-क्रीड़ा कर रहे थे। उनकी पंक्तियाँ थीं। कभी कोई-कोई इधर-उधर फड़फड़ाता हुआ भी दीखता था। वे जल में चोंच चलाते थे। पार सामने छोटी-छोटी दीखने वाली पर्वतों की माला बादलों से ढकी थी, और सरोवर पर बादलों का धुआँ सा था, जैसा सन्ध्या समय अरब सागर पर दीखता है। मुझे 'गेट वे ऑफ इण्डिया' से देखा हुआ सान्ध्य–दृश्य स्मरण हो आया। मानस खूब विस्तृत था। दृष्टि तो दूसरे छोर को खोज न सकती थी। वह पर्वतमाला ही उसकी अनन्तता का परिचय देती थी। दाँयें और बाँयें पर्वत थे। बाँये को छोटे-छोटे और दाँयें को मान्धाता दीखता था, परन्तु ज़रा दूर।

वहाँ एक निस्तब्धता थी और एक विकास की भावना। मानस की विशालता चेतना को प्रभावित करती थी।

आज मैं उस मानस के तट पर था जिसके बारे में अनेक कवियों ने अपनी कल्पनायें कितनी ही फैला रखी हैं। जिसकी विमलता, जिसके प्रसार तथा जिस पर रमण करने वाले हंसों के स्वप्न अनेक साहित्यिकों ने लिये हैं। इसी मानस की उपमा का आश्रय ले तुलसीदास जी की रामायण – रामचरितमानस – बनी है। अनेक सन्त इसके दर्शनों के लिये हिमालय पार कर आये हैं। गुरु नानक का सिद्ध संवाद तो इसी तट पर ही हुआ होगा, और कबीर भी आये थे। ऐसा लगता था, मानो यह मानस सिद्धों का स्थान है, उनको अतिप्रिय है।

मानसरोवर तो मानवीय चेतना के निजी स्तर की ही चीज़ है। विशाल मानवता – मानव चेतना का अपने ही स्तर पर प्रसार – इससे लक्षित होता है। यहाँ पर सौम्यता है, उदारता है और ज्ञान का भी उसी स्तर पर प्रसार है, परन्तु दिव्यत्व नहीं। कैलाश और मानस अत्यन्त दूर हैं।

कैलाश की भूमि तो अतिमानुषी दिव्यत्व की भूमि है और वहाँ के स्पन्दन भी केवल मात्र ऊपर के केन्द्रों को ही प्रभावित करते हैं, बहुत तीव्रता से। हृदय केन्द्र पर प्रभाव वहाँ नगण्य सा है। अतः अति मानुषी स्तरों में सचेत हुए व्यक्ति ही उसके प्रभाव को भलीभाँति अनुभव कर सकते हैं। औरों को तो वहाँ एक निस्तब्धता की ही प्रतीति होती है। वहाँ पर उत्थान भी बहुत वेगवान् होता है परन्तु ऊपर ही ऊपर, मानो व्यक्ति ने पार्थिव लोक का ही परित्याग कर दिया हो।

मानसरोवर तो हृदय को प्रफुल्लित कर देता है। वहाँ पर व्यक्ति एक विस्तार को प्रतीत करता है। उसके साथ ही उसमें आरोहण भी होता है, परन्तु मन्द, जो उसे मानव भाव से एकदम उठा नहीं पाता।

मानसरोवर से कैलाश भी दीखता है। मानो मानस के तट पर ऊर्ध्व चेतना की झलक आ रही हो, प्रतीकमयी भाषा में। रेखा का त्रिकोण से मानो योग हो रहा है।

कैलाश एवं गौरीकुण्ड का दर्शन करने के उपरान्त मानसरोवर देखने से व्यक्ति मानस की महिमा को पूर्णरूपेण अनुभव नहीं कर सकता। उस अतिशय में यह लुप्त सा हो जाता है। अच्छा तो यही है कि व्यक्ति मानसरोवर को पहले देखे, उसके जल में स्नान हो, उसकी सौम्य चेतना से आप्लावित हो और उसके प्रसार से प्रभावित होकर कैलाश के दर्शन को बढ़े। परन्तु हमने तो रास्ता ही दूसरा लिया था, उस पथ पर यह सम्भव न था।

उस सन्ध्या समय के मानस दर्शन ने मुझे भी खिला दिया। सुबह से स्नान के लिये अवसर न मिला था। स्नान के लिये इच्छा जागृत हुई। मानसरोवर का जल बहुत शीतल नहीं होता। मन्दशीतलता, सुखमय होती ही थी। तिब्बत में जब से प्रवेश किया था, कभी नहाने को इतना कम ठण्डा जल उपलब्ध न हुआ था, जिसमें आराम

से नहा सकें। ठण्डक के कारण पानी बदन पर डालकर भागने की ही पड़ती थी। वहाँ पर स्नान बड़ा आनन्दप्रद रहा।

इस वर्ष बर्फ कम पड़ने के कारण और अब तक वर्षा न होने के कारण, मानस में जल कुछ कम था। हाँ किनारे पर जमी हुई काई सी प्रतीत होती थी। जल निर्मल तो था ही! खूब मज़े से नहाया और उसी के तट पर बैठ कर भगवद्-चिन्तन किया।

मानसरोवर के तट पर वायु तेज़ी से चलती है। तम्बू लगाने मुश्किल होते हैं और बड़े पक्के लगाने होते हैं, अन्यथा वे रुक नहीं सकते। मेरे लौटने तक तम्बू लगे हुए थे। रात मज़े में कटी। वहाँ पर इतना अधिक जाड़ा भी न था। हिमाच्छादित पर्वतमाला भी दूरी पर है और ऊँचाई भी मानसरोवर तट की 15,000 फीट के लगभग है। (मानसरोवर की लम्बाई व चौड़ाई 16 और 13 मील के लगभग है। इसकी परिधि का अनुमान है 63 मील। कई तो इससे भी अधिक अनुमान लगाते हैं।)

कर्पूरी लाल ने बड़े प्रयत्न से दूध ढूँढ़ कर पिया। सम्भवतः भेड़ों का रहा होगा। उसकी घनता तथा सुस्वादुपन की वे भरपूर प्रशंसा कर रहे थे।

(28)

राक्षसताल के किनारे

प्रातः सूर्योदय का दृश्य मानसरोवर पर स्पष्ट न था। पूर्व में लगती हुई पहाड़ियाँ और उन पर छाई हुई छोटी-छोटी बदलियाँ बाधक हो रही थीं। जल्दी ही धूप आ गई। इस समय मानस पर वे श्वेतपक्षी न थे। शाम की अपेक्षा ठण्डक भी ज़रा अधिक थी।

स्नान करके सभी लोग मानस के तट पर बैठ कर प्रभु भजन करने लगे। ओढ़ कर बैठना आवश्यक था। वहाँ इतने भुनगे हो रहे थे मानो उनका मेला लगा हो।

मेरी समझ में तो मानस स्मृतियों का पुन्ज है। वहाँ उस तट पर बैठे-बैठे, प्रभु चिन्तन के अनन्तर, प्रिय मित्रों की स्मृतियाँ उमड़ने लगीं। वायु वेग से तरंगित मानस तट पर जैसे-जैसे तरंगें उमड़ती और लीन होती थीं, ठीक वैसे ही एक-एक करके मानो वे मेरे सामने आते थे और चलते चले जाते थे। फिर तो कई एक इकट्ठे ही अन्तर-मानस में प्रगट होने लगे। अपनी मंगलकामनायें तथा शुभेच्छायें मैंने सभी के प्रति प्रेषित कीं। वहाँ पर छोटा सा होम किया और लौटा। मेरी प्रतीक्षा हो रही थी। प्राय: सभी प्रात:राश कर चुके थे और सामान बाँध कर चलने को तैयार थे। पहले तो हमारा विचार मानसरोवर पर एक मुक़ाम करके अखण्ड जाप करने का था, परन्तु इस बीच के परिवर्तन ने सभी सिलसिला गड़बड़ा दिया, मैंने उस बात को ही न उठाया।

हम लोग चल दिये। आज सन्ध्या तक हमें राक्षसताल के तट पर पहुँचना था। यह रास्ता न तो जीवन सिंह का देखा हुआ था और न ही तोपगे का। स्वामी जी गत वर्ष इसी रास्ते पर गये थे।

मुझे यह बता देना चाहिये कि मानसरोवर के तट पर हम अकेले ही यात्री न थे। वहाँ पर दो पार्टियाँ और भी थीं – बागेश्वर के लोगों की और भास्कर स्वामी जी की। अत: इन लोगों के साथ ही चलने का विचार था।

रात को सुनने में आया था कि इधर डाकुओं की कुछ हलचल हो रही है। अत: वे दोनों पार्टियाँ तो सम्भावित समय से पूर्व ही चल दीं। हमें स्वामी जी के पथ-प्रदर्शन के भरोसे ही रहना पड़ा।

राक्षसताल तथा मानसरोवर के बीच फासला थोड़ा ही है। प्राय: एक मील का अन्तर होगा और वह एक पहाड़ है। यह बहुत ऊँचा नहीं। रास्ता इस पर होकर जाता था। आकाश निर्मल था और वायु वेगवती न थी। हम लोग आनन्द से चल दिये। स्वामी जी, गोविन्द वल्लभ तथा कर्पूरी लाल आगे-आगे जा रहे थे।

वे जो मुंस्यारी के भोटिये हमारे साथ थे, आगे भी कैलाश हो गये थे। उन्होंने बताया था कि रास्ता यहाँ से पहाड़ को पार कर, राक्षसताल के किनारे-किनारे जाता है। मानचित्र में भी रास्ता (जहाँ

तक मेरी स्मृति साथ देती है) राक्षसताल के समीप दिखा रखा था, परन्तु वह तो इतना स्पष्ट हो न सकता था, छोटेपन के कारण। दीदी आदि जो कैलाश हो गई थीं, वह भी यही कह रही थी कि रास्ता राक्षसताल के किनारे-किनारे था।

तोपगे ने चंवरों को राक्षसताल की ओर घुमाया। वह हमारे दाहिने को था। स्वामी जी आदि हमें दीखने बन्द हो गये और हम इनको (स्वामी जी, गोविन्द वल्लभ आदि को)। लगभग दो मील चलने पर एक मैदान सा आता है। हम उसमें उतरे तो इनका हमारा आधा मील से अधिक अन्तर था। हम लोग सामने दक्षिण को चले जा रहे थे। वहाँ चंवरों के निशान थे, उधर जाने वालों के।

उनको सामने जाते हुए भास्कर स्वामी दिखाई पड़ रहे थे। हम समझ रहे थे कि वे लोग भी घूमकर हमारी ओर ही आयेंगे। उन्होंने हमें आवाजें लगाईं परन्तु हमने कोई नहीं सुनी। हम लोग चलते चले गये। थोड़ी ही दूरी पर चंवरों के चिन्ह गायब हो गये। अब तोपगे भी चक्कर में पड़ा और इधर-उधर देखने लगा। चंवर उसने खड़े कर दिये।

इतनी देरी में वह पार्टी जो हमारी अग्रणी थी खीज उठी। वे समझ रहे थे कि उनकी आवाज़ सुनने के बाबजूद हम उधर चले जा रहे हैं। वे लोग, तीनों ही, क्रोध में तमतमाये हुए हमारी ओर बढ़े चले आये। थोड़ी ही देर में वहाँ पहुँचे और जैसे माँसाहारी जन्तु अपने शिकार पर झपटता है, वे जीवन सिंह तथा तोपगे पर झपटे। अधिक वाक् प्रहार तो जीवन सिंह पर ही हुए। लाल पीले तो सभी थे ही। परन्तु स्वामी जी का आवेश सभी से बढ़ा-चढ़ा था। इस तरह व्यवहार उससे किया गया, यह सर्वथा अनुचित था, इसमें सन्देह नहीं। उस समय कुछ भी कहना न तो उचित ही था और न उपयोगी। मुझे तो ऐसे लगता था मानो किसी ने मेरे अन्तर को छान दिया हो। मैं विचारों में डूबा हुआ अचेत सा था। चंवर चौंका और मैं जमीन पर आ गया परन्तु चोट न आई। मैंने चंवर को थोड़ा दिक किया। लाठी से भगाया भी।

जीवन सिंह से मेरा कोई विशेष नाता तो था नहीं, परन्तु प्रीति तो अवश्य थी, जैसी तोपगे के साथ भी थी। उसके साथ ऐक्य स्थापित कर मैं उसकी आन्तरिक वेदना को अनुभव कर सकता था। वह स्वामी जी से आगे से ही उत्तप्त था, अब तो सीमा ही आ गई। वह कहने लगा मुझसे 'मैं तो राक्षसताल से चला जाऊँगा, कहीं स्वामी जी से और बात बढ़ गई तो अनुचित होगा, वे संन्यासी हैं, मैं तो गृहस्थी ठहरा' यह सारी घटना अभी इतनी नूतन तथा गहरी थी कि जल्दी ही भूलती कैसे?

हम सभी लौटे। घूमकर उसी रास्ते को पकड़ा। वह रास्ता उस पर्वत श्रेणी के ऊपर-ऊपर जाता था। थोड़ा चलने पर मैंने चंवर छोड़ा, ज़रा नरेन्द्र को आराम देने के विचार से और पैदल चलने लगा। सभी इकट्टे हो गये।

मैंने अवसर मिलने पर गोविन्द वल्लभ को बता दिया कि उनका व्यवहार जीवन सिंह के प्रति समुचित न था। वे चुप रहे। चलते-चलते कर्पूरी लाल से चर्चा चली। मैंने जैसा जीवन सिंह के बारे में अनुभव किया था, उनके सामने रखा। स्वामी जी हमारे ठीक आगे चल रहे थे, उन्होंने सुना और क्षुब्ध हो गये।

'कहा तो क्या हुआ? क्या तुम जीवन सिंह को लँगोटी से बाँध कर ले जाओगे?' वे बोल उठे। मैंने उत्तर दिया, 'लँगोटी से बाँधने का तो प्रश्न नहीं, आखिर वह भी आदमी है।' तात्पर्य था कि मनुष्यत्व के नाते उस तरह का व्यवहार ठीक न था।

'तो क्या तुम हमें आदमी भी नहीं समझते?' वे बहुत अधिक आवेश में बोले। मैंने झट से मिला दिया, 'यदि आदमी न समझता तो आपसे ऐसा कहता ही क्यों?'

इसी ढंग की चर्चा कुछ देर चली। इसका प्रभाव उस समय तो उन पर वाँछनीय न हुआ। उल्टे ताना देते हुए सुने गये, परन्तु कालान्तर में उन्होंने इस बात के औचित्य को प्रतीत कर ही लिया।

यह चर्चा समाप्त हुई ही थी कि वायु का वेग बढ़ा। बादल उमड़ आये और नन्हीं-नन्हीं बूँदों के साथ ठण्ड ने ज़ोर पकड़ा। चलने में इतना तूफान सा आज पहली बार ही मिला था। शरीर को कम्बलों

से लपेटना आवश्यक हो गया। मैंने चंवर ले लिया। एक घाटा पार किया। बाँयीं ओर फिर मानसरोवर के दर्शन हुए। थोड़ी ही देर में बादल चले गये, हवा बन्द हई। आकाश निर्मल हो गया। वह क्षणिक सी लीला समाप्त हो गई।

धार पर चलते-चलते रास्ता घटता गया। दूर देश में राक्षसताल का कोना दृष्टिगोचर हुआ। समझे कि अब पहुँच गये हैं परन्तु अभी 'दिल्ली दूरस्त' वाली बात थी। हमें तो अभी एक पर्वत की ढाल को पूरा-पूरा लाँघना शेष था जो काफी आगे और नीचे जाता था। शायद वह रास्ता डेढ़-दो मील रहा होगा। टाँगे थक सी रही थीं। चंवर पर बैठे-बैठे तो कमर भी दर्द करने लगी। उतराई थी। मैंने चंवर छोड़कर टाँगों का आश्रय लिया और उस ढाल पर जल्दी-जल्दी चलता गया। प्रायः सभी लोग थक से रहे थे। थोड़ी-थोड़ी दूर पर विश्राम की प्रेरणा हो ही रही थी। क्षुधा भी व्याकुल करने लगी थी। दिन का आहार बहुत हल्का ही रहा था।

भास्कर स्वामी तो राक्षसताल के किनारे लगभग मील भर ऊपर ही बैठ गये थे। हम प्रायः कोने पर आ गये। राक्षसताल के किनारे-किनारे रास्ता जाता हुआ दीखता था। भेड़ें भी चलती थीं। पत्थरों से पटी सड़क-सी भी थी। सम्भवतः पुराना प्रचलित रास्ता यही रहा होगा – बरसों पहले – और अब वह ऊपर वाला रास्ता चलने लगा हो।

राक्षसताल तो अवहेलना पूर्ण नाम है। बहुत लोग तो राक्षसताल ही कहते हैं। रावण ही वह राक्षस होगा जिसके नाम से इस सर का नाम राक्षसताल पड़ा है। सम्भवतः पौराणिक गाथा की कल्पना हो कि वह इस सर में नहाता था, जब तपस्या के निमित्त उसने इधर वास किया। कैलाश से मानसरोवर तथा यह ताल प्रायः बराबर ही होते हैं। यही शायद कुछ कम हो। संगति का कितना दुष्परिणाम हो सकता है, इसका यह ताल साक्षी देता है।

यह ताल नहीं, पूरी झील की झील है और मानसरोवर से परिधि में थोड़ी ही कम होगी। उसके बीच में पहाड़ भी है और आकार में उतना सम नहीं जितना मानसरोवर। राक्षसताल पर वायु बहुत तीव्र चलती है। और इसीलिये ही पानी अधिक निर्मल है। ज़ोर की लहरें

उठती रहती हैं उस वायु के कारण और किनारे से टकराती हैं। यहाँ पर तो सींवार का नाम न था और कभी सींवार पड़ती है इसके भी कोई चिन्ह न थे। मानसरोवर-तट तो इस बात को सूचित करता था कि वहाँ सींवार रहती ही है। सम्भवतः मानस तट पर भी हर जगह ऐसा न होगा।

यहाँ के वातावरण में एक क्षोभ था, वायुवेग के कारण; तो भी स्पन्दन उच्चकोटि के थे। मानसरोवर की सी सौम्यता न थी और न ही उतना प्रसार ही।

सान्ध्य प्रकाश में जब रवि का बिम्ब अदृश्य हो रहा था, मैंने कैलाश के यहाँ से दर्शन किये। वह अद्‌भुत दृश्य था। बादलों ने तीन ओर से कैलाश को घेर रखा था। ऊपर भी कुछ मेघ मँडरा रहे थे। परन्तु वह हिमाच्छादित शिखर तो स्पष्ट था। ऐसा लगता था मानो मेघों पर आरूढ़ कैलाश दूर आकाश में स्वर्ग का एक खण्ड सा है। कैमरे के योग्य प्रकाश न था।

वहाँ तम्बू को तो पत्थरों के सहारे स्थिर किया जा सकता था। खूँटे गड़ने कठिन, और गड़ भी जायें तो पत्थरों के बिना टिकें कैसे? उस भूख में भुने हुए गेहूँ भी अच्छे लगे थे और स्वामी जी वाले बिस्कुट भी।

(29)

तकलाकोट की ओर

तकलाकोट हमारे मस्तिष्क में घूम रहा था, 'कौन सी घड़ी हो, हम वहाँ पहुँचें' यही उत्सुकता थी। मानसरोवर से तकलाकोट 28 मील कहा जाता है। परन्तु 'सर्वे ऑफ इण्डिया' मानचित्र तो कम से कम 32 मील दिखाता है। उस दिन 11 मील तो हम आ ही चुके थे, सम्भव है 12 आये हों।

प्रातः ही हम लोग चल दिये। मन में था कि साथ चलने वाली दोनों पार्टियों से आगे चलें और जाकर चंवरों आदि का प्रबन्ध कर लें। भय था कि इतने अधिक लोगों का प्रबन्ध सम्भव होना कठिन हो जाये और हमें कहीं रुकना न पड़ जाये। जल्दी-जल्दी चंवरों को हाँकते हुए चलने लगे। थोडी चढ़ाई तो थी ही। आज हमें गुर्लामान्धाता को लाँघना था। यह घाटा बहुत ऊँचा तो नहीं परन्तु राक्षसताल से उधर जाने में चढ़ना तो पड़ता ही है।

उस चढ़ाई पर, आज मुझे स्पष्ट याद है, जब सूर्य के सामने बादल लग जाते थे और धूप नहीं मिलती थी तो हाथ-पाँव ठण्डे पड़ जाते थे और प्राण धूप को चाहता था। धीरे-धीरे दिन बढ़ता गया और ठण्डक कम हुई। परन्तु गत दिवस का सा अनुभव तो आज भी हमारे लिये था ही। एक नदी की घाटी को पार कर हम लोग ज्यों ही पहाड़ी की ढाल पर चढ़े तो चमचमाती हुई धूप बादलों में छिप गई। ठण्डी हवा चलने लगी और उसके साथ ही वर्षा आई। पहले नन्ही-नन्ही बूँदे थी, फिर तेज़ी से बरसते हुए छोटे-छोटे ओले। हमारी बाँयीं ओर चोटी पर बर्फ थी ही। यह गुर्लामान्धाता के परिवार में से ही कोई पर्वत रहा होगा।

लगभग दो बजे हम एक पड़ाव पर पहुँचे। नदी में ठण्डा पानी बह रहा था और पास में घास थी। पीछे आने वाली पार्टियाँ यहीं बैठने वाली थीं। यह स्थान राक्षसताल से दस मील रहा होगा। तोपगे भी स्वभावतः यहीं बैठना चाहता, परन्तु उसे चकमा दिया गया। स्वामी जी तथा गोविन्द वल्लभ ने तोपगे को कहलाया कि हमें रास्ते में किसी ने बताया है कि यहाँ डाकुओं का भय हो रहा है, अतः आगे बढ़ें। वह मान गया और हम थोड़ा विश्राम करके आगे बढ़े।

धूप निकल आई थी, परन्तु वहाँ आँधी सी चल रही थी। पहाड़ क्या थे मिट्टी और छोटे-छोटे पत्थरों के टुकड़ों के ढेर। वह बिलकुल ही ऊजड़ भूमि थी। घास तो दूर रही, यहाँ पर तो डामा भी न दीखता था। उस हवा से छोटे-छोटे कंकर और धूलि उड़कर टाँगों को लगती थी और आँखों तक भी आती थी। सचमुच वह वायु दुःखदायी थी। उसने जल्दी ही थका दिया। दो मील चलने पर

पानी आया। स्वामी जी तथा गोविन्द वल्लभ वहाँ रुके थे विश्राम के लिये, परन्तु हमारे देखते-देखते आगे निकल गये। मन कहता था 'दो मील आ गये हैं, यहीं बैठ जाते तो अच्छा था।' एक-एक कदम भारी हो रहा था। मेरा शरीर तो चूर-चूर हुआ जा रहा था। चंवर पर बैठने पर यह दशा थी। पैदल चलने को तो अभी ताकत थी ही नहीं, जैसे-तैसे चलना तो था ही, सो चलते गये। मातायें भी, गिर-पड़ रही थीं। हम लोग 12 मील आ गये थे। वह वायु व्याकुल करने वाली थी। दूसरे, तिब्बत के भोजन और महीने भर से रोज पैदल चलने के कारण शिथिलता तो सभी में आ ही रही थी। आगे का रास्ता तो घिसट-घिसट कर ही कटा। कहीं बीच में चढ़ाई आती थी तो मातायें और भी घबराती थीं। पानी तो वहाँ, उस सूखे पहाड़ में, विरले स्थलों पर दो-दो मील पर ही था। अतः दो मील और चलना आवश्यक हो गया।

पानी आ ही गया, फैला हुआ सा था। मन आगे कदम बढ़ाने को भार समझता था। तन ढेर हो जाना चाहता था। कुछ ही कदम आगे बढ़ कर डेरे के लिये उचित स्थान मिला, नदी के ठीक किनारे, नदी की घाटी में। यह रिंगुंग का पड़ाव था। हम समझते थे, तकलाकोट बस, चार मील ही है, परन्तु जल्दी ही पता लगा, अभी आठ मील है।

मैं तो धूप में जाकर लेट गया। कमज़ोरी बहुत प्रतीत हो रही थी। शरीर चूर-चूर सा हो रहा था। नरेन्द्र ने पानी गर्म किया और सितोपलादी चूर्ण की मात्रा मैंने ले ली। ग्लूकोज भी थी पास में, उसका भी सेवन किया। तम्बू लगे तो उसमें जाकर पड़ रहा।

अब तो मेरा मस्तिष्क तकलाकोट से आगे भारत भूमि पर दौड़ने लगा था। मैं चाहता था कि जन्माष्टमी के दिन तक, हो सके तो एक दिन पहले ही, मैं दिगोली पहुँच जाऊँ और मातायें भी। रास्ते में हमें एक दिन के लिये रेतोली मुआनी भी रुकना आवश्यक था, कार्यवशात। अतः ऐसा सोचा था कि भारत भूमि में प्रवेश के उपरान्त, माताओं को साथ लेकर मैं आगे बढ़ जाऊँ। गोविन्द वल्लभ का प्रान्त

लग जायेगा। उनका दौरा ही होगा, वे आराम से आते रहेंगे और उनके साथ ही कर्पूरी लाल तथा नरेन्द्र। ऐसे संकल्प उठ रहे थे।

रिंगुंग के पास में कुछ दूरी पर गुम्फायें थीं। पास ही और बस्ती थी। नीचे नदी बह रही थी, जिसके किनारे तकलाकोट बसा है। उसके सामने ऊँचे किनारे दिखाई पड़ते थे। उन्हीं पहाड़ों पर से रास्ता ज्ञानिमा को जाता है। ज्ञानिमा जाते तो उधर से लौटना होता।

(30)

तकलाकोट में

अगले दिन प्रातः ही हम लोग तैयार हो गये। पास ही में, उसी पड़ाव में, भेड़ों वाला भेड़ें लेकर आ गया। वह भेड़ें मुड़वाने तकलाकोट जा रहा था। ऊन, भेड़ों के हिसाब से बिकती है, तोल से नहीं; और मण्डी में ही भेडें मुण्डती हैं। हमने यह दृश्य तोपकू में देखा था और फिर दर्चिन से आगे वाली मण्डी में। चारों पाँव बाँधकर भेड़ को गिराया जाता है और फिर जल्दी-जल्दी कैंची चलती है। हज़ारों भेड़ें मुंडती हैं, प्रति वर्ष हर मण्डी में।

दो भेड़ें, वह भेड़ों वाला, वापिस घर लौटा देना चाहता था। वह पास ही गुम्फा में रहता था, उसी घाटी में नीचे की ओर वह अकेला था। दो भेड़ें अकेले घर कैसे जातीं। भेड़ की सन्तान थी, आदमी की नहीं, जो समझ जातीं। और बाकी भेड़ों को छोड़ कर वह कैसे पहुँचता? वे तो सभी के साथ ही जाना चाहती थीं। उसके लिये यह एक विचित्र समस्या थी। वह रस्सी की खोज में था। उसे एक रस्सी दी गई। उसने उस छोटी सी रस्सी से उनके सींग बाँधे और उन्हें हँकाया। पत्थर से डराता हुआ, छोटे-छोटे पत्थर फेंकता हुआ, वह उनको रास्ते पर लगाने में सफल हुआ। हम भी चल दिये।

जानवरों को हाँकने में पत्थर का प्रयोग तोपगे भी करता था और बड़ी सफलतापूर्वक। उनकी दिशा को बदलने का इससे सुगम उपाय

और कोई न था। चाबुक तो सिर्फ तेज़ करने के लिये बरता जाता था। पत्थर वहाँ हर जगह प्राप्य हैं।

रास्ता मैदान था और उतराई थी। केवल आठ ही मील हमें चलना था। रास्ते में पानी भी था ही। हवा उतनी न थी। एक पहाड़ के किनारे-किनारे रास्ता चला जाता था। उत्सुकता थी, तकलाकोट को देखने की। आशा थी कि बस एक और मोड़ लिया और सामने तकलाकोट दिखाई देगा। परन्तु यह आशा अन्त तक बनी ही रही। ठीक वहीं पहुँच जाने पर तकलाकोट दीख पड़ा। वह नदी के किनारे गहरे में बसा है। और बाकी बस्ती वहाँ से लगभग तीन फर्लांग की दूरी पर, पहाड़ की दूसरी ढाल पर है। वह तो इधर से दीख ही नहीं सकती।

लगभग चार मील चलने पर हरियाली दिखाई पड़ती है। पानी की कूल (छोटी नहर) निकाली हुई है, जो खेतों को हरा-भरा कर देती है। तिब्बत के ऊजड़ प्रदेश में इतने दिन व्यतीत कर हरे-हरे खेतों के दर्शन कितने प्रिय लगते हैं! प्रतीत होता है, हम दुनियाँ में आ रहे हैं। बस, यहाँ से बस्ती लग जाती है। लोगों के घर मिट्टी से बने हुए, चौड़ी छत वाले। झाड़ियों के काँटों से थापी हुई मेंडें दीखने लगती हैं। रास्ते पर स्तूप बने हैं, जगह-जगह। इस प्रकार का सिलसिला एक बार आरम्भ होता है तो ठीक तकलाकोट के समीप तक चलता जाता है। पानी खूब है। एक गाँव के बाद दूसरा गाँव आता है। मटर के हरे-हरे फलियों से लदे खेत दीख पड़ते थे और जौ के खेत भी जिनमें बालें भरी हुई थीं। वायु में डोलते हुए वे कितने अच्छे लगते और ऊपर, बाँयीं ओर देखने पर, वही रुण्ड-मुण्ड पहाड़ थे, पत्थरों के टुकड़ों से ढके हुए। डामा तक का नाम न था। जल की धार अवश्य कहीं-कहीं बहती दीखती थी, नीचे को आती हुई। मानव पुरुषार्थ ने इस वीरान को हँसती हुई, लहलहाती हुई, उपजाऊ भूमि में बदल दिया था। वहाँ पर मटर बहुत अच्छी होती है और जौ भी। यह अपेक्षाकृत गर्म प्रदेश है। हम लोग 14,000 फीट से भी नीचे आ गये थे।

मटरों के खेतों को देख कर, मटर खाने की इच्छा होनी स्वाभाविक ही है। सत्तू देकर कुछ मटरों की फलियाँ लीं। वे बहुत मधुर थीं और कोमल भी। कितने दिनों के बाद ऐसी वस्तु मिल रही थी! इसलिये भी उनका स्वाद द्विगुणित प्रतीत होता था। सत्तू फाँकते हुए (नरेन्द्र वाले बढ़िया सत्तू दीदी के पास थे) और मटर खाते हुए, हम लोग बढ़ते चले आये। धूप तेज़ होती जा रही थी और भूमि भी गर्म होने लगी थी। पथरीली भूमि थी। तकलाकोट की आशा लगाये चलते चले जा रहे थे। वह नदी समीप आ रही थी। उसका शब्द अब स्पष्ट कानों में पड़ने लगा था। उसका नाम है करनाली।

धीरे-धीरे नीचे गहरे में तम्बू दिखाई दिये। कुछेक मकान भी और नदी पर लचकता हुआ पुल। चंवर आगे निकल चुके थे। पुल पर पहुँचे तो देखते क्या हैं कि तोपगे ने सामान वहीं डाल दिया है और चंवर खोले बैठा है। स्वामी जी तथा गोविन्द वल्लभ पार वाली तकलाकोट की बस्ती में नन्दराम भोटिये के यहाँ गये थे। हम लोग वहीं बैठ गये। ज़ोरदार धूप लग रही थी। मैंने सूर्य के सामने अपना शरीर फैलाया और लेट गया।

तकलाकोट गर्म जगह है और विशेष कर नदी तट। वहाँ पर हवा भी नहीं चलती। शरीर गर्म हुआ और पसीना आया। न जाने कितने दिनों के बाद शरीर खुल सा गया।

हम लोग अजब असमंजस में थे। वहाँ पुल के पास पड़े थे, सामान के रखवारे से। कहीं डेरा लगता तो खाना-पीना होता। मैंने जीवन सिंह को गोविन्द वल्लभ के पास भेजा और आप स्नान के लिये तैयार हो गया। पानी तो बहुत ठण्डा था, परन्तु शरीर के धूप में तप जाने के कारण उस मध्यान्ह की धूप में वह खला नहीं। इतने में उधर से पता भी आ गया।

वहाँ पर एक हूणिया कुष्मारू (जंगली पहाड़ी फल) बेचने को लाया। खुमानी की किस्म का निकृष्ट फल होता है। परन्तु उस बुभुक्षित अवस्था में तिब्बत की भूमि पर वह भी बहुमूल्य था। उसे सभी ने शौक से खाया। वहाँ खाने को और था भी क्या? बाजार में जूते बिक रहे थे। ऊन थी और भेड़-बकरियाँ। ऊनी कपड़ा बेचने

की इच्छा से कुछ लोग इधर चक्कर लगा रहे थे। सवारी किराये पर लगाने के विचार से भी कई हममें रुचि रख रहे थे। कर्पूरी लाल को ही इस बात में रुचि थी। वही इस उधेड़ बुन में पड़े।

उधर से आदमी आया था बोझों को पुल पार करवाने के लिये। चंवर पुल से घबराते हैं। वे तो नदी में से ही तैर कर पार होंगे। दूसरे पार लादे जायेंगे और फिर हम लोग भोटियों की मण्डी में पहुँचेंगे। सामान तथा चवरों के उधर आ जाने पर मैं आगे चला गया। नन्दराम की दुकान पर वे लोग भी मिले।

तकलाकोट भोटियों की बड़ी मण्डी है। वहाँ पर पत्थर की दीवारें चिनी हैं। उन पर कपड़ा डाल कर ढक रखा है। इस प्रकार से वे कपड़े की छत वाले मकान हैं। उनके नीचे तहखाने भी रहते हैं। नवम्बर में बाकी बचा सामान उन नीचे वाले तहखानों में बन्द कर ये लोग भारत लौट जाते हैं। मैंने सुना था कि तिब्बत की सरकार इनको मकान बनाने की आज्ञा नहीं देती। न जाने, इसमें कितना तथ्य है।

तकलाकोट बड़ी मण्डी है। लगभग 50 मकान तो भोटियों के ही होंगे। इसके अतिरिक्त मकानों में तिब्बती भी रहते हैं। यहाँ के शासक का स्थान उसी पहाड़ी के शिखिर पर है। वहाँ एक मन्दिर भी है। वे कपड़े से ढके मकानों की पंक्तियाँ दूर से अजीब लगती हैं। उस बीच वाली घाटी से दीखती हैं।

नदी पार करके छोटी सी घाटी चढ़नी होती है। बीच में एक और भी स्थान है, मण्डी का अंग ही। वहाँ पर भेड़ें मुंडती हैं। जहाँ हम गये थे, वे तो भोटियों के घर थे। दुकानों में खूब माल रहता है। कपड़ा तथा ऊन, व्यापार की प्रधान चीजें हैं। तिब्बती लोग बदले में ऊन, नमक तथा सुहागा देते हैं। तिब्बती घी तो तिब्बत में ही खप जाता है।

यहाँ मुझे तिब्बती घी की चर्चा कर देनी चाहिए। चमड़े के पात्रों में ही दूध दुहा जाता है। उन्हीं में वह जमाया जाता है और चमड़े के थैलों में ही उनसे नवनीत निकाला जाता है। लकड़ी तो होती नहीं, मथानी कैसे बने? बिना मथानी के ही काम चल सके तो मथानी बनाने वाला मूर्ख हो। एक थैले में (चमड़े के) दही डाला,

उसका मुँह बाँधा और हिलाते चले गये। आवश्यकता होने पर पानी डाल दिया। ऐसे, नवनीत निकल आता है। ठण्ड के कारण वह बिगड़ता नहीं। अत: घी बनाने का रिवाज ही नहीं। इसी नवनीत को छोटी-छोटी सिली हुई खालों में वे लोग मण्डियों में बेच जाते हैं। हमने भी ढाई सेर नवनीत खरीदा था, रास्ते में। उसका घी बनाया गया था। इसमें से एक विशेष गन्ध आती है। मैं तो उसे सहन न कर सकता था। रुपये का आठ छटाँक मिल जाता है।

लोग तकलाकोट से खेचरनाथ का बौद्ध विहार देखने जाते हैं वह लगभग 12 मील होगा, यदि अधिक न हो तो। मेरा शरीर तो आराम माँग रहा था। कुछ लोग वहाँ पर गये। प्रात: चल कर शाम को लौट आये।

पीछे रहने वाले लोगों ने उस दिन चावल खाये, मिलम के बाद पहली बार। वहाँ पर चावल गल जाता है; ऊँची जगहों में तो कठिनाई होती है। तकलाकोट में मटर भी भर पेट खाये, कच्चे और पक्के भी। बथुवा भी वहाँ उपलब्ध था। बाबा भैरवनाथ के हम उपकृत हैं, बथुवे के लिये और एक मात्रा तक मटरों के लिये भी। नन्दराम तो हमारे लिये बहुत हितकर थे ही। उनके कारण तकलाकोट बहुत सुखप्रद रहा।

हमने तम्बू लगाया था परन्तु आधी पार्टी तो वैसे ही घर में रही थी, जिसकी छत कपड़े की होती है। खाना भी वहीं बना था। उस भूमि में तम्बू लगाना बहुत मुश्किल है। हमारा तम्बू भी तो वैसे घर में ही लगा था, केवल मात्र ऊपर से वह घर ढका हुआ नहीं था।

कुछ रोगियों की सेवा का अवसर मुझे यहाँ भी मिला था। भैरवनाथ के घावों पर मरहम पट्टी अपने हाथ से मैंने यहीं पर की। भैरवनाथ ने किस प्रकार से अपना हृदय खोला था, उस दिन, जब हम अकेले थे। कितनी वेदना थी उस हृदय में और साथ ही साथ कितना विश्वास और प्रीति।

(31)

लिपुलेख का घाटा

तिब्बत से, तकलाकोट की ओर से, भारत में प्रविष्ट होने के लिये लिपुलेख का घाटा पार करना होता है – केवल एक ही घाटा। उसकी ऊँचाई भी बहुत कम है। ठीक अनुमान तो लगभग 17,500 का होगा, यद्यपि किसी ने उसे 19,500 भी बताया है। हमने तो 18,500 का जयन्ती धुरा पार कर रखा था और हाल ही में उसी ऊँचाई पर गौरीकुण्ड गये थे। स्वामी जी ने भी बताया था कि उस घाटे में कठिनाई नहीं होती। इतने दिन तिब्बत में 15,000 फीट की सामान्य ऊँचाई पर, साँस लेते रहने से फेफड़ों का स्वभाव भी कुछ बदल जाता है। लिपुलेख को, इसीलिये देखने की उत्सुकता न थी परन्तु तिब्बत की कष्ट-प्रदायिनी भूमि से पार पाने को तो थी ही। हम लोग 4 अगस्त को तकलाकोट पहुँचे थे। 5 अगस्त को खोचरनाथ देखने के लिये कुछ लोग गये थे। 6 अगस्त प्रातः ही हम लोग उस घाटे के लिये रवाना होना चाहते थे।

पिछले अनुभव से यह सीखा था कि घाटे के लिये जितना जल्दी चल सकें उतना ही अच्छा होगा। उस दिन तो न केवल हम ही तीन बजे के लगभग स्नानादि के लिये निकल पड़े थे अपितु औरों को भी हिला दिया था। पाँच बजे तो हम बाँधकर भी तैयार थे। हमने अपना तम्बू भी गिरा दिया। बड़ी उत्सुकता से चंवरों वाले की राह देख रहे थे। नन्द राम के पास भी हो आये। उसी ने चंवरों का फैसला करवाया था।

दो दिन हम तकलाकोट में रहे थे। दोनों दिन मौसम बहुत अच्छा रहा। धूप थी कड़ाके की। वायु तो थोड़ी होनी अनिवार्य ही है। नौ की प्रातः भी साफ था परन्तु हम लोगों के तैयार होते-होते, बादल घिर आये और थोड़े ही समय में बूँदाबाँदी होने लगी। फिर ज़ोर से भी बरसने लगा। इतने में चंवरों वाला भी आ पहुँचा। प्रातः आठ

का समय था। घाटे की ओर भी बादल घिरे हुए दीखते थे। चंवरों वाला प्रेरणा कर रहा था कि हम चल दें।

ऐसे मौसम में लिपुलेख भी भयरहित नहीं होता। जौहार के धुरे टुँग से भी दूर पड़ते हैं और इस प्रकार पर्वतमाला की आड़ में आ जाते हैं। टुँग अथवा शमगाँव की वर्षा से, यह निश्चित अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि धुरों में बरस रहा होगा अथवा बर्फ गिर रही होगी। परन्तु तकलाकोट और लिपुलेख के घाटे के बीच में और कोई पहाड़ नहीं लगता। तकलाकोट की वर्षा, विशेषकर जब कि लिपुलेख मेघाच्छन्न दीखता हो, कष्ट की सूचक है। इस घाटे में हवा बहुत ही घोर चलती है, और दोपहर के उपरान्त तो और भी तेज़ होती है। बुद्धि तो यही कहती थी कि आज न चलना चाहिये, यद्यपि अनुमान यह भी था कि हमारे घाटे तक पहुँचते-पहुँचते खुल जायेगा और हुआ भी यही। देरी होने के कारण हम लोग उस दिन कालापानी न पहुँच पाते और घाटे के नीचे तीन मील पर तम्बू लगा कर पड़ाव करना पड़ता। वहाँ की शीत भयंकर होनी स्वाभाविक ही थी और स्थान की कमी भी। हमने आगे न बढ़ने का निश्चय किया। चंवर वाले को रात को ही वहाँ आ जाने का आदेश दिया गया जिससे हम अगले दिन जल्दी ही चल पायें। कुछ लोग सोचते थे 'और यदि कल भी ऐसा ही हुआ तो' परन्तु मेरी तो इस तरह सोचने की आदत ही नहीं।

हमारी दशा विचित्र थी। सभी सामान बाँधा हुआ था। तम्बू भी बंधा था और जमीन गीली हो रही थी। फिर से तम्बू परेड करने में आलस्य प्रतीत होता था। कुछ देर समीप वाले कुन्दन सिंह की दुकान में आश्रय लिया। उनके पास 'अमृत बाज़ार पत्रिका' आती थी। कई एक प्रतियाँ उनके पास थीं, अन्तिम सम्भवतः 25 जुलाई की रही होगी। उसी दिन हमें पहली बार पता चला कि डाक की हड़ताल हो रही है। तिब्बत में तो व्यक्ति ऐसे प्रदेश में होता है जहाँ का दुनियाँ के साथ सम्बन्ध नहीं। डाक का कोई प्रबन्ध उस इलाके में तो मालूम नहीं पड़ता था। आते-जाते लोगों के द्वारा ही वह अखबार कुन्दन सिंह के पास पहुँचे थे। तिब्बत की सारी यात्रा

में जब भी मेरे मन में आया तो मैं किसी मित्र के नाम पत्र लिख डाला करता था, और उसे अपने पास रख लेता था। डाकघर की प्रतीक्षा थी।

लगभग 12 बजे वर्षा रुकी। इधर-उधर डोलते-डोलते दिन कैसे कटता था? उसकी दुकान में भी अब जगह न थी। उसके पास व्यापारी आ रहे थे। वह मकान, जिसमें बाकी लोग बसे थे, हमारे सामान के कारण अव्यवस्थित था। वहीं पर बैठ कर हमने उस दिन प्रातःराश किया था। नरेन्द्र ने गत आगामी दिन के लिये पंजीरी (गुड-पापड़ी) बनाने का साहस किया था।

आटा ठीक भुन गया है या नहीं, यह देखने वाला पारखी था मैं, फलतः वह बिगड़ गई। गुड़ तो मिला ही दिया गया, परन्तु आटा कच्चा रहा। उसका एक ही सुन्दर इलाज था लप्सी बनाई जाये। सो ही बनाई। वह कटोरदान प्रातः खाली किया गया।

कुछ तो ठण्डा हो रहा था इसलिये और कुछ निकम्मे होने के कारण भूख बहुत मालूम हो रही थी। लप्सी तो पता नहीं चली किधर गई होगी। तकलाकोट में मटर का सत्तू बनता है। थोड़ा दूसरा सत्तू भी था। सेर भर मटर के सत्तू में से थोड़ा ही बचा और दूसरा सत्तू भी खाया गया। खाने वाले भी 9-10 थे। इससे भी – डेढ़ छटाँक सत्तू से – कुछ देर के लिये आश्वासन भर हुआ, अधिक नहीं। अखबार पढ़कर मन बहलाया गया, और भूख भी। आखिर तम्बू लगाना ही पड़ा। उस घर में बसने पर ही चैन मिली अन्यथा कुत्ते की सी गति प्रतीत होती थी। उधर खाने की भी सुधि होने लगी। कल रास्ते में हमें खाने को कुछ न मिलना था। स्वामी जी का अद्वितीय सुझाव था – पराँठे डाले जायें। रात के साढ़े दस बजे तक पराँठे बनाये गये। खाना लगभग तीन बजे ही खा लिया था। मटर का शाक भी तैयार हुआ। मैंने तो रात को ही सभी कुछ चख लिया था।

अगले दिन प्रातः ही फिर तैयार हुए। चंवर वहीं पर थे। मौसम अनुकूल था। वह तो केवल भीरु हृदयों की व्यर्थ कल्पना थी। नन्दराम थोड़ी दूर तक पहुँचाने आया और लाल बाँस मिश्री के दो

कुँजे गोविन्द वल्लभ को दे गये 'धुरे में काम आयेंगे' ऐसा कह कर। भोटिये प्रायः सज्जन होते हैं। इसका प्रमाण हमें नन्दराम के तीन दिन के समुचित व्यवहार से भी मिल गया था।

नदी पार की गई और सामनी ओर तकलाकोट के मुकाबले में ऊँचे पर बसे हुए गाँव में से निकल कर हमने एक विशाल मैदान में प्रवेश किया। रास्ते में ऊँची-ऊँची पताकायें थीं। उनको देखकर मुझे उस एकाकी अद्वितीय पेड़ का स्मरण हो आया जो हमने तिब्बत के इस सारे भ्रमण में देखा था। वह पेड़ तकलाकोट आते में हमें मिला था, तकलाकोट से दो तीन मील की दूरी पर उधर ही। उसकी जाति का तो मुझे पता नहीं परन्तु प्रतीत वह विस्मयकर ही होता था। तिब्बत में पेड़! अकेला! एकमात्र! वह एक मकान के आँगन को सुशोभित कर रहा था।

वर्षा ऋतु में मैदान में जैसे गाँव का रास्ता हो जाता है, ठीक वैसा ही वह चौड़ा-चौड़ा रास्ता हो रहा था। दोनों ओर खेत थे और रास्ते में पानी फैल रहा था। लगभग दो मील जाने पर खेती समाप्त हो जाती है। सभी ओर ऊजड़ ही दीखने लगता है। डामा के झाड़ भी नहीं दीखते। दायीं ओर नीचे वही नदी जिस को हम पार करके आये थे, घरघराती हुई चली जाती है। अलक्षित ही हम थोड़ा-थोड़ा ऊपर चढ़ते चले जाते हैं।

तीन मील चलने पर गोविन्द वल्लभ ने घोड़ा मुझे दे दिया। मरियल सा घोड़ा था, न उसमें स्फूर्ति थी, न समझ। लगाम के इशारे तक को न समझता था। रास्ते में एक नदी पार करने में तो उसने कमाल ही कर दिया। रास्ता छोड ऊपर को भागा परन्तु लाठी तो बिगड़ों को राह पर लगा देती है। एक चंवर भी सवारी का साथ में रखा था। मैं चल तो सकता था, परन्तु इतना परिश्रम करना मैंने स्वास्थ्य की दृष्टि से उचित न समझा।

तकलाकोट से चार मील की दूरी पर भी एक पड़ाव है। वहाँ धर्मशालायें बनी हैं। उससे एक मील आगे से चढ़ाई आरम्भ होती है। हम लोग लगभग आठ बजे इसी स्थल पर आ गये थे। यहाँ पर पानी भी था। मातायें और चंवर पीछे थे, आधे घण्टे बाद पहुँचे।

हमारा साथ तकलाकोट से कुछ बढ़ा था यद्यपि मुंस्यारी के वे भोटिये, ससुर-जमाई मानसरोवर से ही अलग हो गये थे। उन्हें ज्ञानिमा जाना था। एक वृद्ध साधु, लम्बी सफेद दाढ़ी वाले, हमारे साथ ही तकलाकोट से चले थे, और दो व्यक्ति और भी। वे भाई-भाई थे। कैलाश यात्रा के लिये आये थे। दुर्भाग्यवश मानसरोवर पहुँचते ही बड़ा भाई ज़ोर से बीमार पड़ गया। लाचारी से वहीं से लौटकर आना पड़ा। वह तकलाकोट की धर्मशाला में थे। मुझे पता चला तो कुछ औषधि दी। थोड़ा लाभ हुआ। उन्होंने हमारे साथ से लाभ उठाने के विचार से साथ ही चलना पसन्द किया, यद्यपि उसकी अवस्था की माँग थी कि अभी दो दिन और वहीं पर रहें। बेचारों के पैसे भी समाप्त होने को थे। वे दयनीय स्थिति में थे।

वहीं पर जल के समीप बैठकर खाना-पीना हुआ। माताओं ने तो गुड़पापड़ी ही खाई। पराठे हम लोगों के उदरस्थ हुए। घाटा पार करने को हिम्मत पैदा हो गई। उस वृद्ध साधु ने गुड़ भेंट किया। सफर में मीठा खूब भला लगता है और तत्काल खाया जाने वाला भोजन भी होता ही है। धन्यवाद पूर्वक स्वीकृत हुआ। भैरवनाथ का रास्ता देखते रहे, परन्तु वह दीखते ही नहीं। चले तो हमारे साथ ही थे। पुल के पार भेंट हुई थी; परन्तु यह उन्होंने मुझसे कह दिया था कि अब मैं आपके साथ न चल पाऊँगा। बहुत थक गया हूँ। अस्तु, हम लोग चल दिये।

गोविन्द वल्लभ घोड़े पर थे और मैं चंवर पर। दो व्यक्ति चंवरों को हकाने वाले थे। अब हमारा सामान चार चंवरों के लायक ही था। वह बीमार भी चंवर पर था। ये चंवर वाले उतने सरल न थे जितना तोपगे था, और न ही सामान का इनको उतना ध्यान था जितना उसको ध्यान रहता था। चंवर तो तेज़ चलते थे पर स्वभाव के भी तेज़ ही मालुम होते थे। शायद दोनों भाई-भाई रहे होंगे।

उस नदी के किनारे-किनारे चलने के बाद रास्ता नदी के उस पार हो जाता है। पहले तो मन्द-मन्द चढ़ाई होती है, फिर उस पार आगे जाने पर खड़ी चढ़ाई लगती है। घाटा सामने दिखाई देता है।

बस, ऐसा ही प्रतीत होता है। तीन छोटी-छोटी चोटियाँ, घाटे की निशानी हैं। रास्ता उनसे बाँयें को है।

नीचे नदी में कीचड़ बहुत दीखता है। रास्ते में कहीं-कहीं इधर नीचे की ओर घास भी है, परन्तु ऊपर चढ़ने पर तो वही बर्फ से चूर्णीकृत पत्थर।

प्रायः सभी लोग ही अच्छे चले आ रहे थे। धुरे से इधर लगभग फर्लांग भर पहले मुझे पता चला कि पार्वती का सिर चकरा रहा है, परन्तु जब मैंने उसके लिये सवारी छोड़ने को कहा तो वह उठ कर चल दी। अन्तिम चढ़ाई टेढ़ी-मेड़ी है और काफी खड़ी। वहीं पर नीचे गहरे में बर्फ की शिलायें दीखती हैं। बाँयें को तो ऐसे लगता है मानो गिलेशियर हो।

लगभग 12.30 बजे हम लोग घाटे पर थे। वहाँ पर एक रस्सी पर झण्डियाँ बंधी थीं। दोनों ओर चट्टानें थीं। बीच में से दस फुट का रास्ता रहा होगा। चट्टानें बहुत ऊँची न थी, केवल 6-7 फुट।

वह सचमुच सौभाग्य का अवसर था। हम लोग कैलाश-यात्रा करके सकुशल भारतभूमि में प्रविष्ट होने जा रहे थे। अन्तिम घाटा भी आज विजय कर लिया था। प्रसाद बँटना ही चाहिये था सो बँटा। स्वामी जी का आदर किया गया। वे ही तो हम सब में वयोवृद्ध थे और संन्यासी भी।

लिपुलेख में वायु बहुत वेगवती होती है, इस बात का अनुमान हमें उस अन्तिम फर्लांग भर की चढ़ाई में हो गया था। घाटे में व्यतीत किये गये दस मिनटों में ही हाथ पाँवों को जाड़ा होने लगा था और शरीर भी ठण्डक प्रतीत करने लगा था। उस दोपहर की धूप में यह दशा थी, तो बादल होने पर कैसा होता?

घाटे से नीचे को तेज़ उतार है। घाटे के इस ओर भी विशेष बर्फ न दीखती थी। कहीं-कहीं दूरी पर बर्फ की छोटी-छोटी शिलायें थीं। रास्ता इतनी तेज़ी से उतरता चला जाता है कि पाँव यत्न से ही रोके जाते हैं। तीन मील तक इसी तरह लुढ़कते ही जाना होता है। घुटने ढीले होने लगते हैं। मैंने सवारी छोड़ दी, गोविन्द वल्लभ ने भी, और पैदल चलने लगे। कर्पूरी लाल तथा स्वामी जी हमारे

साथ थे। वहाँ नीचे तीन मील पर जो धर्मशाला थी, उसके सामने हम लोग रुक गये। आशा थी, पानी मिलेगा। परन्तु वह जल प्रवाह जो ऊपर से दीखता था, पृथ्वी के नीचे चला गया था, वहाँ पर। नीचे जाकर वो फिर प्रगट होता था।

कहाँ जौहार के तीन घाटे और कहाँ लिपुलेख! कहाँ राम राम और कहाँ टें टें। यही मन में रह-रह कर आता था। न यहाँ वह विशालता थी, न वह वातावरण और न ही बर्फ के दृश्यों का वैभव। वहाँ तो मीलों तक व्यक्ति एक अद्‌भुत वातावरण में रहता है और बर्फ के इतने चमत्कार पूर्ण वैभवशाली दृश्य दीखते हैं कि वह सभी आज भी स्वप्न सा लगता है। परन्तु यह तो बच्चा सा है, लिपुलेख का घाटा। घाटा नहीं, घाटी सी है! इसकी ऊँचाई भी उसके मुकाबले में 1,000 फीट कम है। सरल तो है परन्तु उतना ही आनन्द-शून्य भी। जो क्लेश उन घाटों को पार करने में उठाया जाता है, उन दृश्यों और वातावरण के मुकाबले में कदापि अधिक नहीं, कम ही तो है।

जौहार में उन घाटों से 20-25 मील इधर से ही वनस्पति अदृश्य सी हो जाती है। बर्फ से जले पहाड़ और तिब्बत की सी शरीर चाट डालने वाली वायु का परिचय मिल जाता है; परन्तु इधर लिपुलेख का कुछ अन्य ही हिसाब है। लगभग पाँच मील नीचे जाने पर हरा भरा दीखने लगता है। गगनचुम्बी, नुकीली चोटियों और पहाड़ों पर छोटी-छोटी घास निरन्तर दीखती है। और आगे जाने पर तो खेत भी पड़ने लगते हैं। रास्ते में अनेक धर्मशालायें बनी हैं। रास्ता चलता भी बहुत है। इधर वाले तो इसे खेल समझते हैं। परन्तु जौहार के घाटों को तो भोटिये लोग भी बड़ा महत्व देते हैं। जान की बाजी लगा कर जाते हैं।

(32)

कालापानी

उस रात हमें कालापानी पहुँचना था। वहाँ पर नन्दराम का एक मकान था। वहीं धर्मशाला भी थी। उसके चौकीदार के लिये चंवर वालों को सन्देश दे रखा था। लिपुलेख के घाटे से आने वाली नदी को एक पुल से पार करना होता है। यहाँ से कालापानी का पड़ाव लगभग एक मील होता होगा।

पुल पार करके रास्ता उसी नदी के किनारे-किनारे जाता है। इस नदी में दूसरी दिशा से एक और नदी आ मिलती है। बड़ी प्रतीक्षा के बाद आखिर पुल आया। पुल से तो वनस्पति का साम्राज्य सा आरम्भ मालूम होता है। पहाड़ हमें नंगे बिलकुल ही नहीं दीखते। झाड़ियाँ और घास बहुत ही मिलती है। घास छोटी-छोटी है। दोनों ओर ऊँचे पहाड़ों का सिलसिला चला जाता है। नदी की गर्जना भी साथ-साथ चलती है।

सन्ध्या हो रही थी। थकावट भी थी ही। मैं बीमारी के बाद पहले-पहले ही इतना चला था। स्वामी जी तथा गोविन्द वल्लन आगे थे, मैं उनके पीछे आ रहा था। कर्पूरी लाल घोड़े पर थे और नरेन्द्र ने चंवर संभाल लिया था। मातायें भी पीछे चली आ रही थीं। हम इस आशा में थे कि आज तम्बू परेड न होगी।

आखिर मैं भी कालापानी आ पहुँचा। उस नाम की सार्थकता का परिचय तो प्राप्त नहीं हुआ।

वे दोनों, वहीं पर, धर्मशाला की आँगन की दीवार पर थे। वहाँ पर खूब चहल पहल थी। नीचे के सभी स्थान घिरे थे। चौकीदार लापता था। हमने जीवन सिंह को तकलाकोट से बिदा कर दिया था और उसके साथ ही दोनों तम्बू। तोपगे भी चला गया था, ज्ञानिमा के लिये। हमारे पास एक ही तम्बू था। यदि इस धर्मशाला में स्थान न मिला तो मुश्किल पेश आयेगी, यह स्पष्ट था। चौकीदार को बुलवाने का प्रबन्ध उन्होंने कर रखा था। वे स्वयं नीचे के मकान में गये

थे। थोडी देर में चौकीदार आया। उसने ऊपर एक कमरा देना मान लिया। चंवर भी आ गये, मातायें भी और वह रोगी भी, सकुशल वहाँ पहुँच गये। नरेन्द्र की दवाइयों का उपयोग मेरे द्वारा होता था। काम वे अच्छा करती थीं। वहा परहेज़ तथा पथ्य की आवश्यकता के कारण अपना बक्सा मैंने बन्द ही रहने दिया। कभी-कभी ही उसका उपयोग करता था।

वहाँ धर्मशाला के पास मैदान था। उसमें तम्बू लगाया गया। उसके बिना गुज़र कैसे होती। हवा तेज़ चल रही थी। तकलाकोट से यहाँ पर अधिक ठण्ड थी। वैसे ऊँचा तो शायद तकलाकोट ही अधिक हो। पास ही में एक पहाड़ी नाला था। उसका पानी खूब ठण्डा था। तकलाकाट में तो एक धारा थी जिसका पानी बहुत ठण्डा न था। वैसे तो वहाँ तकलाकोट में पास ही नदी बहती थी, गहरे में, परन्तु उसका पानी बहुत शीतल था। कपड़े तो उसी में धोये गये थे।

चौकीदार बहरा था और कुछ बेवकूफ भी प्रतीत होता था। ऊपर दो कमरे थे। छोटे कमरे में कुछ हूणिये लोग थे। वहाँ आग जलाकर चायपानी कर रहे थे। परन्तु हमारे दूसरे कमरे में चूल्हा लगाने के लिये वह राज़ी नहीं था। इसमें सन्देह नहीं कि वहाँ ऊन रखी थी, परन्तु धुआँ तो दूसरे कमरे से भी इधर ही आता था। उस हवा में, उस ठण्डक में, रात को खुले में खाना बनाना भी तो असम्भव था। वह मान भी गया जल्दी ही। व्यर्थ में दंगे पर उतारू हो रहा था। मातायें खेतों में से थोड़ा फाफर का शाक तोड़ लायी थीं। वे खेत उसी के थे। इससे भी वह बहुत जल रहा था।

डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की सड़क कालापानी से शुरू हो जाती है। अंधेरा होते-होते सड़क के कुली आ गये और एक कद्दू लाये। उस दिन सूखी सब्जी थी भी नहीं और उसका विचार करके ही मन झुंझलाता था।

गोविन्द वल्लभ के चौके के नियम जो तिब्बत में ढीले पड़ गये थे फिर से लागू हो गये। सम्भवतः इसलिये कि हम लोग अब पवित्र भारत भूमि में जो आ गये थे। उनसे, उस सन्ध्या को, इस विषय में व्यर्थ की अटपटी सी चर्चा भी हुई।

तकलाकोट में और यहाँ स्वामी जी का डेरा हमारे तम्बू की बगल में होता था। वे उसी में सहर्ष गुजारा कर लेते थे।

आज हम पुरानी दुनियाँ में तो कुछ आ गये थे। प्रकृति की हरियाली थी, मनुष्य भी देखने को मिलते थे और खाने को सब्जी भी मिल गई थी, परन्तु पूरा-पूरा इस दुनियाँ का भान तो डाकघर वाले स्थान पर पहुँच कर ही होने वाला था। गर्ब्यांग, हमारे लिये, इधर से पहला डाकघर था और अंग्रेजी भारत की, नाम लेने योग्य, पहली स्थायी बस्ती। बस्ती तो कालापानी भी थी, परन्तु वह तो अधिकतर पड़ाव ही थी।

(33)

गर्ब्यांग की ओर

कालापानी के इधर से ही पेड़ दीखने लग जाते हैं। ऊँचे-ऊँचे सीधे गगनचुम्बी शीश उठाये हुए पर्वतों के बीच में वह मैदान सा था। नदी की ओर गर्जन उस स्थल को गुँजा रही थी। यही नदी तो काली के नाम को धारण कर लेती है।

प्रातः ही हम लोग चल दिये। पानी का बाहुल्य था ही। कुछ दूर तक तो वह बड़ी नदी दायें को थी, परन्तु फिर पुल से हमने उसे पार किया। जब हम चले तो ठण्ड हो रही थी। थोड़ी ही देर में धूप निकली। उस पुल से, पार की ओर बैठ कर, हमने उसे तापा था। पुल के इधर ही, एक वेगवान जल प्रवाह की ओर इशारा कर, मुझसे किसी ने कहा था, यही काली नदी की जड़ है। अब काली नदी हमारे बाँयें पर थी। कभी रास्ता कितना भयंकर रहा होगा – इसका अनुमान नवनिर्मित रास्ते से हो सकता था। यह किसी भोटिये ने धर्मार्थ बनवाया था।

हम लोग रागा वृक्षों के जंगल में से चल रहे थे। रागा बिल्कुल चीढ़ का सा पेड़ होता है। उसके पत्ते छोटे तथा मोटे होते हैं।

उनकी लकड़ी इमारत के काम आ सकती है। इतने दिनों के बाद जंगल के दर्शन और उसमें से चलना, छन-छन कर आती हुई धूप और सांय-सांय करती हुई वायु, ये क्यों न अच्छे लगते? तिब्बत के ऊजड़ प्रदेश में तो आँखें तरस रही थीं, ऐसे दृश्यों के लिये।

काली में वेग है, परन्तु गौरी तो गौरी ही थी। उसकी उपमा काली कहाँ कर सकती है? न वेग में और न ही किनारे के सौन्दर्य में। गौरी के अद्‌भुत वानस्पतिक वैभव पूर्ण दृश्यों का स्मरण होने लगता था, उस काली को देखकर।

कालापानी से गर्ब्यांग, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की सड़क के रास्ते जो काली के बाँयें किनारे आती है, 11 मील है। परन्तु बाँयें किनारे से होकर जाने से तो केवल आठ ही मील होता है। अतः यही रास्ता चलता है। हमने भी काली को फिर से पार किया और वही रास्ता लिया।

पुल पार करते ही हम नेपाल राज्य में थे। काली ब्रिटिश-भारत तथा नेपाल की सीमा है। वह डोटी का इलाका है जो इतने डोटियाल देता है, कुली के काम के लिये। रास्ता बहुत सुन्दर था। रागा के इतने तरतीब से उगे जंगल! मैंने बहुत कम इतने तरतीब से उगे जंगल देखे हैं। प्रातः के प्रकाश में, सूर्य की छाया में, उनकी हरियाली और भी गहरी दीखती थी। काली से ज़रा हम दूर हट कर जा रहे थे। काली चक्कर काट कर आती है।

पेट की भूख व्याकुल करने लगी और जैसे ही धूप लगी प्यास भी लग आई। रास्ते में एक गाँव पड़ा। गौवें तो थीं परन्तु दूध प्राप्य न था। आखिर एक मैदान में हम लोग रुके ही क्षुधा निवृत्त के लिये। खाने का सामान पीछे था। क्षुधा का पहला नम्बर था। उसे कुछ आहार देकर आगे बढ़े तो पानी भी मिल गया। चंवर पर नरेन्द्र चले आ रहे थे और घोड़े पर गोविन्द वल्लभ। मुझे तो टाँगों को अभ्यास करवाना था। दूसरे, सवारी पर भी तो थकान प्रतीत होती है।

'पहाड़ी के उस कोने पर गर्ब्यांग है' स्वामी जी का ऐसा कहना आशा जागृत कर रहा था कि बस जल्दी ही वहाँ पहुँचेंगे। चलने में आशा ही सबसे अधिक कष्ट देती है। 'निराशः सुखी शेते' ठीक है। ऐसा समझें दिन भर चलना होगा, आखिर पहुँच तो जायेंगे ही'

तो व्यक्ति मज़े में रहता है। धीरे-धीरे नीचे उतरने लगे, नदी के पार गये। सामने पुल भी दीखा। वहाँ पर खूब तेज़ वायु चल रही थी और उससे पुल काँप रहा था। तिब्बत की निशान-स्वरूपा झण्डियाँ यहाँ भी थीं।

पुल पार होने पर भी गर्ब्यांग के कोई चिन्ह दिखाई न दिये। रास्ता ऊपर ही ऊपर जा रहा था। इधर तो चट्टानें थीं, ऊपर कुछ हरियाली थी। शायद वहीं पर गाँव होगा। वह चढ़ाई भी (आधा मील से कम क्या होगी) ले ली। वह उपत्यका सी भूमि थी। उस पर्वत की गोदी में स्थित मैदान में चारों ओर हरियाली ही हरियाली थी। जौ के खेत लहलहा रहे थे। फाफर ने भूमि को ढक रखा था और प्रकार-प्रकार के झाड़, घास-पात हो रहे थे। उसी मैदान में दायीं ओर को डिस्टिक्ट बोर्ड का बंगला था, जो आज हमारा विश्राम-स्थल होने वाला था।

हम लोग दोपहर को वहाँ पहुँचे, लगभग 11 का समय होगा। सामने की ओर काली पार, विशाल पर्वत थे। उनके गगनचुम्बी शिखरों पर बादल मंडरा रहे थे। मानो कभी उठते हों और कभी बैठते हों। सारे पर्वत घास से श्यामल हो रहे थे। बीच-बीच में पेड़ों के कारण काले से लगते थे। आकाश निर्मल था और धूप प्रिय ही लग रही थी। गर्ब्यांग ठण्डा स्थान है।

वह बंगला ऐसा था मानो बरसों से उसमें कोई टिका न हो। दरवाजे बन्द थे। भीतर से पत्थर लगा रखे थे और बाहर रास्ते में भूतकेश के पेड़ हमारा स्वागत कर रहे थे। भीतर आँगन में ऊँची-ऊँची घास थी और उसमें नीले-नीले फूलों का छींटा सा था। जगह बड़ी थी और अलग भी। चारों ओर से घिरी होने के कारण वायु से बचाव था।

थोड़ी ही देर में बाकी परिवार भी आ गया। हम लोग आकर पानी पी चुके थे। मटर का सत्तू फाँककर, खाने का आयोजन करवा दिया था, जब तक चंवर आयें। डाकघर से डाक आई। प्रिय मित्रों के समाचार आये। कइयों की शुभकामनायें और कइयों की समस्यायें सामने आईं। प्रतीत होने लगा कि हम पुरानी दुनिया में पुनः लौट

आये हैं। अब हम वास्तव में भारत-भूमि में थे। लोगों की बातें हम समझ सकते थे और लोग हमारी। और, सामने दिख रही थी भारत की उर्वरा, शस्य-श्यामला भूमि। भारत मा! तुझे नमस्कार है! चिर प्रवासित जैसे पुनः घर लौटने पर अनुभव करता है आज मुझे भी वैसा ही लग रहा था। यद्यपि यह भूमि अदृष्ट पूर्व थी, अपरिचित थी, परन्तु थी वह भारत भूमि ही। तिब्बत का सा शीतल मरुस्थल न था।

कैलाश, जितना ही आनन्दप्रद है, ऊँचा है, भूमि उतनी ही दुखदायी और निकृष्ट सी लगती है। दैव की विचित्र लीला है। परन्तु इसमें भी अर्थ है। कैलाश तक पहुँचना सुगम कैसे हो सकता है?

तिब्बत के वासियों को वहाँ के पत्थर प्रिय होंगे और वहाँ की शरीर-बेधिनी हवायें भी, इसमें मुझे तनिक भी सन्देह नहीं। वह तो उनकी मातृभूमि है। वहीं की मिट्टी से तो उनका शरीर बना है और उसी में बीता है उनका शैशव। मैं जब उसे निकृष्ट कहता हूँ तो केवल सीमित दृष्टिकोण से ही तो। यही सीमा मानवीय दृष्टिकोण की सीमा है। यही सीमा अपूर्णदर्शिता की सीमा है। यदि हम हूणिये के हृदय में बैठ सकें और उसके नेत्रों से तिब्बत भूमि को देख सकें तो हमारे लिये वह वैसी ही प्रिय होगी जैसे भारत भूमि। उसका अपना ही सौन्दर्य है।

सन्ध्या-समय बादल घिर आये। वे भीतर भी आने की चेष्टा करते थे। सभी आर धुआँ ही धुआँ था, बादलों का। वायु भी चलती थी। ज़रा ठण्ड हो गई, परन्तु कैसा सुहावना था। वर्षा ऋतु का ढंग था। इतने दिनों के बाद आज यह देखने को मिल रहा था। तिब्बती बादल तो ऊपर ही ऊपर रहकर ही गज़ब ढा देते हैं। वे नीचे आते ही नहीं। नीचे आने पर तो प्रलय ही कर दें।

हम लोग, बाकी लोगों को पीछे छोड़कर, भागने की फिक्र में थे। अब मेरी टाँगें भी इस लायक हो रही थीं। दिन में हम टहलने गये थे। एक कुली का प्रबन्ध भी करना था, कर्पूरी लाल तथा नरेन्द्र के सामान के लिये। दो पड़ाव के लिये, 18 मील के लिये, सात

रुपये में कुली मिल रहा था। लड़ाई का सबसे अधिक दुष्प्रभाव मानो भारत के इस उत्तरी कोने पर ही हुआ हो।

गर्ब्यांग में पानी की बड़ी कमी थी। थोड़ा सा पानी धारा में था और भरने वाला सारा गाँव। हम तिस पर अधिक। पीने को तो मिलता ही था। परन्तु दूसरे ही दिन प्रातः मुश्किल हुई। एक कमण्डल भर जल से अंगपोंछ हुआ। आधा मील नीचे नदी में उतरने की हिम्मत न थी। बूँदाबाँदी ने ठण्डा भी खूब ही कर रखा था।

रात को गर्ब्यांग में भैरवनाथ हमारे यहाँ आये। कालापानी तक तो वह पहले दिन पहुँचे ही न थे। रास्ते में शायद किसी धर्मशाला में टिके। गर्ब्यांग शाम को पहुँचे थे। दिन में किसी गाँव में खाया। केवल खाया ही नहीं, उस रोगी और उसके भाई को भी मांग कर खिलाया। भिक्षा करने में भैरव बाबा चुस्त थे और खिलाना भी जानते थे। वे हमसे बिदा लेने आये थे। अब वे दो तीन दिन गर्ब्यांग में ही विश्राम करना चाहते थे। गाँव में धर्मशाला में उन्हीं के साथ वे टिके भी थे।

(34)

मालिया और जिप्ती

हम लोग दूसरे दिन खा पीकर 9.30 बजे रास्ते लग गये होंगे। इस रास्ते के बारे में सुन रखा था कि खराब है। चढ़ाई और उतार बेढब हैं। रास्ता ऊपर चढ़ता चला जाता है। गर्ब्यांग ऊँची जगह है ही और अधिक ऊँचे जाते-जाते हम लोग इस पर्वत की पृष्ठ-भूमिका पर पहुँच गये। बादल घिर आये और बूँदाबाँदी होने लगी। हम लोग लगभग डेढ़ मील आये होंगे। इस स्थल की मृदुल घास और जड़ीबूटियों की बहुलता धाकुड़ी की चढ़ाई याद कराती है। पिण्डारी देखने में वह पार कर रखी थी। थोड़ी देर में ही वर्षा ज़ोरों से होने

लगी और रास्ता भी नीचे की ओर बढ़ने लगा, बड़ी तेज़ी से। पाँव टिकाना मुश्किल हो रहा था।

उतरते-उतरते जब हम बुद्धि गाँव पहुँचे तो वर्षा बन्द हो गई थी। गाँव की गोबर से सनी गली को पार कर सामने मैदानी रास्ता देख कर आश्वासन हुआ। उतरते-उतरते भी तो घुटने ढीले पड़ जाते हैं।

थोड़ी धूप निकली। रास्ता आखिर हमें काली के किनारे पर ले गया। काली में भी उद्दण्डता है, गर्जना भी है। परन्तु वह गौरी का सा वैभव नहीं। यहाँ पर भी जंगल था, परन्तु वह जंगल जो हमने मुंस्यारी से बखुड़ियार जाने में देखा था, उसकी तुलना यह कदापि न कर सकता था। न तो किनारे पर चट्टानें ही दीखती थीं, लता वृक्षों से आच्छादित, और न ही उठते हुए सीकर के बादल।

काली तट से रास्ता फिर धीरे-धीरे चढ़ने लगता है। जल प्रपात ठीक सड़क में आकर गिरते हैं। पथिक कुछ भीगे बिना निकल नहीं सकता। थोड़ा बहुत भीगना ही पड़ता है, छाता बरतने पर भी। धूप भी आई और पसीना भी झलकने लगा।

और, ऊपर चढ़ते चले गये। हम लोगों ने पहाड़ की सारी ऊँचाई ही फाँद दी थी। फिर बादल घिर आये। हवा चलने लगी। हम लोग बादलों में से चल रहे थे। स्थान-स्थान पर शीतल जल के झरने अपने निर्मल पेय से पथिक की प्यास ही न बुझाते थे अपितु थकावट भी हर लेते थे। ऊपर के हिस्सों में पहाड़ों पर घास थी, लम्बी-लम्बी। उस गहरे, घने हरित वस्त्र से मानो वे लदे थे और बीच में थीं विशाल चट्टानें जिनकी बगल से रास्ता जाता था।

रास्ता फिर उतरता-उतरता नदी के किनारे ले जाता है। शाम होते हम वहाँ पहुँच गये और वे झोंपड़े अदृश्य हो गये। मेरे साथ कर्पूरी लाल थे। हम लोग लौटकर पड़ाव में पहुँचे। वह रास्ते से हटकर ज़रा ऊँचाई पर ही था। केवल 2-3 झोंपड़े थे और एक पक्का मकान जिसमें दो कमरे थे। इसको धर्मशाला कहा जाता है। उधर के सेवक संघ ने उसे बनवाया था। झोंपड़े में डाक के हरकारे और सड़क के कुली रहते हैं। हमारे ऊपर पहुँचते-पहुँचते बूँदाबाँदी होने लगी थी। थोडी ही देर में गोविन्द बल्लभ तथा स्वामी जी भी आ गये।

तम्बू लगाने के लिये जमीन तैयार की जा रही थी परन्तु वह श्रम व्यर्थ ही रहा। वर्षा तेज़ थी और वह गीली जमीन और भी भीग गई। तम्बू न लगाकर उस धर्मशाला में ही टिकने का निश्चय हुआ।

उस धर्मशाला का कोई चौकीदार तो था नहीं। अतः मनुष्य और भेड़ बकरियाँ उस निर्जन स्थल में समान रूप से आश्रय लेती थीं। एक बकरी तो अभी भी एक कोने में दुबक कर बैठी थी। बकरी व भेड़ों की मींगनों की वहाँ पर परतें जमी हुई थीं। अपनी ओर से खूब सफाई की गई। परन्तु उसके साफ होने की भी तो सीमायें थीं। छोटे कमरे में थोड़ी घास डाली गई और वहाँ हमारे बिस्तर लग गये। इधर बड़े कमरे में मातायें तथा दुर्गा दत्त रह गये। रसोई का आयोजन भी वहीं करना था।

रात बड़े मज़े की बीती। वर्षा तेज़ हुई तो अनेक स्थलों पर छत टपकने लगी। भीतर ही बिस्तर को थोड़ा समेट कर, पानी को रोकने के लिये बर्तन रख दिये गये और दो छाते खोल कर तान दिये गये। बखुड़ियार की याद ताज़ी हो रही थी। परन्तु यहाँ पर उतना टपकता भी तो न था, मानो सभी कुछ वहाँ से कम हो। रात को जल्दी ही वर्षा बन्द हो गई। लगभग 9 बजे सब सो गये।

वहाँ बिल्कुल एकान्त था। वह स्थान जंगल में है। वही वहाँ की बस्ती है। काली का गर्जन ऊपर भी जाता ही है। बाकी सभी के सो जाने पर, मैं लैम्प की रोशनी में बैठा लिखता रहा। कुछ पत्रों के उत्तर जल्दी ही देने आवश्यक प्रतीत हो रहे थे।

वह चेतना, जिसको मैंने गौरीकुण्ड के पथ पर, दूसरी गुम्फा से आगे, कैलाश दर्शन में अनुभव किया था, जागृत हो उठी। उसी के फलस्वरूप, वे शब्द, कैलाश की स्तुति में लिखे गये जिन्हें मैं ऊपर लिख आया हूँ।

अगले दिन हमें सात ही मील चलना था, परन्तु यह रास्ता और भी भयानक था। कुछ वर्ष पूर्व सड़क पहाड़ के ऊपर ही ऊपर जाती थी। लगभग 12 मील जाना होता था और सारे रास्ते में कहीं पानी न था। उस रास्ते को निरपनिया का रास्ता कहा जाता था। लोग नाम सुनकर डर जाया करते थे। परन्तु अब जो रास्ता है वह

भी रुचिकर नहीं। प्राय: सारा रास्ता पत्थरों से पटा है और अधिकतर भाग सीढ़ियाँ ही हैं।

इसी रास्ते पर हमें एक प्रपात देखने का सौभाग्य मिला। बहुत ऊँचाई से, लगभग 200 फीट की ऊँचाई से, पानी की धारायें गिरती थीं, चट्टानों के साथ ही साथ। चट्टान से टकरा कर वह सीकर ही सीकर हो जाती थीं। वह मन्द गति से नीचे आती थी। हवा द्वारा अपने पथ से काफी दूर ले जाई जाती थीं। वास्तव में तो उसे जल प्रपात की अपेक्षा सीकर प्रपात कहना अधिक उचित होगा। बद्रीनाथ के आगे वसुधारा की स्मृति जागृत हो जानी स्वाभाविक है। वहाँ भी सीकर स्नान होता है, परन्तु यहाँ तो पथिकों का सीकर स्नान बलात् हो जाता है। नीचे समीप ही काली बहती है। जब हम वहाँ से निकले तब आकाश में बादल घिर रहे थे। उस मन्द प्रकाश में तो प्रपात की शोभा और भी बढ़ चढ़ कर थी।

उन सीढ़ियों को चढ़ते-चढ़ते हम लोग उन विशालकाय पर्वतों की चोटियों से बातें करने लगते थे और फिर उतरते-उतरते नदी के तट पर आ जाते थे। पिंगपौंग की चिड़िया की सी गति थी, उस रास्ते की और उस पर चलने वालों की। जल प्रपात थे ही, झरने भी थे। ऊपर जाने पर बादलों में चलना होता था, जिससे शरीर की गर्मी दूर हो जाती थी, परन्तु रास्ता है वास्तव में बेढब ही। इंजीनियरिंग का दिवाला शायद यहीं पिटा है। चट्टानों के ऊपर भी तो काटकर ही रास्ता बना था। वही काम ज़रा अधिक मात्रा में करने से रास्ता काफी सुगम हो जाना असम्भव प्रतीत नहीं होता।

भोटियों के सतत संगी रहते हैं कुत्ते। वे विशालकाय होते हैं। बाल भी बड़े-बड़े होते हैं। वे भेड़ों को रास्ते पर ले जाने के काम में और उनकी रक्षा के काम में दक्ष होते हैं। परन्तु होते भयंकर हैं। आदमी की टाँगे भी फाड़ देते हैं। इन कुत्तों का थोड़ा परिचय पहले से था। बुर्फु में भोटियों के घरों में जाने से वह परिचय बढ़ गया था।

जब भोटिये के तम्बू के पास से गुजरना हो तो भला यही होता है कि मालिक को आवाज लगा दें जिससे वह कुत्ते को रोक ले।

एक मज़ेदार अनुभव मुझे तीपकू में हुआ था। प्रातः का समय था, सूर्य अभी निकला न होगा। मैं पानी की खोज में पहाड़ की ओर गया। पानी न मिलने के कारण वहाँ से नदी की ओर लौटा। काला पश्मीना लपेटे, हाथ में कमण्डल थामे मैं चला जा रहा था। रास्ता दो तम्बुओं के बीच से था। जब मैं मध्य में पहुँचा तो देखता क्या हूँ कि तीन भोटिये कुत्ते, काले-काले भालू से, भौंकते हुए मेरे पर टूटे चले आ रहे हैं। मैं वहीं खड़ा हो गया और उन्हें डराने के लिये आवाज की और पत्थर उठाने को जमीन छुई। वे मुझ तक अभी पहुँच न पाये थे कि उनके मालिकों ने आवाज लगाई और वे लौट गये। कुत्ते से डर कर भाग खड़े होना तो उसे काटने के लिये न्योता ही होता है।

जब मैं और कर्पूरी लाल मालिया की ओर आ रहे थे तो रास्ते में एक स्थान पर एक भोटिये ने पड़ाव कर रखा था। उसके सामान से सड़क भी रुकी थी। वह भी वहीं था। मैं आगे था। मैंने उसके कुत्ते को सड़क से नीचे बैठे देखा, परन्तु निर्भीकता से मैं आगे बढ़ता गया। उस कुत्ते के बराबर में पहुँचा तो वह मुझ पर लपका। और तो कुछ सम्भव न था, मेरे हाथ में बन्द छाता था। मैंने वह उसके मुँह में ढूँस दिया। यदि घबरा जाता तो उस दिन उस कुत्ते ने मेरी टाँग अवश्य घायल कर दी होती।

चलते-चलते तो विषमातिविषम रास्ते भी कट जाते हैं, यह तो केवल सात ही मील था। जिस पहाड़ पर हम चल रहे थे, उसके पार जाना था। यही चढ़ाई का अन्त था। आखिर वह धुरा आ ही गया। वहाँ पर भी कपड़े के रंगबिरंगे चिथड़े बंधे थे और ऊन भी। यहाँ से जिप्ती के लिये मैदानी रास्ता था। काली नदी हमसे बहुत दूर हो गई थी। अब खेला से नीचे ही फिर इससे भेंट होने वाली थी। दोपहर से पूर्व ही हम जिप्ती पहुँच गये।

पहाड़ में हर गाँव में दुकान होनी आवश्यक नहीं। कुछ विरले गाँवों में ही दुकानें होती हैं। यहाँ पर भी दुकान थी – काफी बड़ी। उसी की ऊपरी मंजिल पर सामान आदि रखा गया।

जिप्ती ठण्डी जगह है। वहाँ धूप प्रिय लग रही थी। बिना कुछ खाये हमने उस सात मील के रास्ते को तय किया था। केवल केसर-इलायची की चाय पी थी। भूख यदि व्याकुल कर रही हो तो विस्मय ही क्या? पहाड़ में गोला मिश्री ही ऐसा खाद्य है जो झट से उपयोग में लाया जा सकता है, और प्रायः हर दुकान पर मिलता भी है। गुड़ यहाँ था नहीं और न ही मिश्री। गोला (नारियल) था और मूँगफली। उसी से ज़रा भूख को बहलाया।

जिप्ती का गाँव तो ज़रा दूरी पर था, वहाँ तो मैं गया नहीं, परन्तु इस दुकान की स्थिति बहुत सुन्दर स्थल पर थी। ऊँचाई 7,000 से अधिक होगी। सामने नेपाल की पर्वतमाला दूरी पर दीखती थी। काली बहुत नीचे गहरे में थी, अतः दृष्टि से परे थी। सभी ओर हरी-हरी लम्बी घास थी। बीच में पेड़ खड़े थे। यहाँ पर बरसात काफी होती है। अतः सभी कुछ सजीव दीखता था। दुकानदार के पुरुषार्थ ने फूल काफी पैदा कर रखे थे। डालियों की शोभा अपूर्व थी।

थोड़ी ही देर में वर्षा आई। कभी ज़ोर से और कभी मन्द-मन्द। दिन का खाना हो गया। हम लोग यहाँ से आगे निकल जाना चाहते थे। कर्पूरी लाल, नरेन्द्र, छः मातायें और मैं। इतने दिन हम लोग इकट्ठे रह चुके थे। अलग-अलग होना ज़रा साहस का कार्य प्रतीत होता था, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु आवश्यकता होने पर साहस भी किया ही जाता है। हमारा आगे बढ़ जाना सर्वथा हितकर प्रतीत होता था।

(35)

शमखोला और आगे

सामान ठीक किया गया। माताओं का तो था ही अलग। नरेन्द्र तथा कर्पूरी लाल ने साथ वाला सामान निकाला जो अत्यन्त आवश्यक था। मैंने भी दवाई का बक्सा, टार्च तथा कागज पत्र की पोटली बनाई और पश्मीना कन्धे पर साधा। पारस्परिक हिसाब-किताब उसी दिन तय

हो गया था। कुली का प्रबन्ध भी हो गया। कुली कल प्रातः चल कर हमें अगले दिन खाने के समय खेला मिलेगा, ऐसा ठीक था।

नरेन्द्र औषधियाँ बेचने का व्यापार करते हैं। दवाई तो उन्होंने बुर्गी में भी बेची थीं। तकलाकोट में उन्होंने अपना बड़ा चाकू बेच डाला। गर्ब्यांग में ट्रंक तथा कतिपय बिस्तर के गर्म कपड़े बेचे थे। अब यहाँ भी उनकी दुकान खुली और कई एक वस्तुएँ बेचने पर उतारू हो गये। यह विचित्र प्रवृत्ति थी जो उनमें जागृत हो गई थी। कर्पूरी लाल पर भी संगति का प्रभाव पड़ा और उन्होंने अपना फालतू जूता (बाटा का) बेच डाला और कुछ कमाया उस सौदे में से। चलते-चलते हम लोगों को 5.30 हो गये थे। मातायें हमसे आधा घण्टा पहले निकल गई थीं।

विचार था उस रात शमखोला रुकने का। वह स्थान तीन ही मील होता है। रास्ता मैदानी है। जब हम चले तो वर्षा शान्त सी थी परन्तु बादलों का धुआँ सा छा रहा था। उसमें स्थित पेड़ स्वप्न-जगत् की सृष्टि ही प्रतीत होते थे। लगभग आधा मील से लौटकर मैं कैमरा लेने आया, जो भूल गया था।

रास्ते में एक और गाँव पड़ता था। उसे पार कर जब हम शमखोला की सीमा में पहुँचे तो अंधेरा हो रहा था। बादल भी बूँदाबाँदी कर रहे थे। यहाँ पर हमें बतलाया गया था कि गाँव के प्रधान ने एक स्थान (छाना) यात्रियों के लिये बना रखा है। गाँव सड़क से आधा या पाव मील की दूरी पर ऊपर है, अतः सड़क से दीखता नहीं। वहीं पर हमें माताओं से मिलना था।

सड़क पर कोई व्यक्ति दिखाई न पड़ता था। आखिर सड़क के ऊपर एक घर दिखा, जिसका दरवाज़ा खुला था। वहाँ एक माँ ने बताया कि आगे सड़क पर एक अखरोट का पेड़ मिलेगा, वहाँ से रास्ता धार-धार ऊपर को जाता होगा, वहाँ चले जाना।

एक नदी रास्ते में पड़ती है। पुल है। उससे पार हो हम उस बढ़ती हुई अंध्यारी में चले जा रहे थे। मकान कोई दीखता न था और न कोई आदमी जो हमें रास्ते का सुनिश्चित बोध करा दे। सड़क पर तो पानी ऐसे बह रहा था मानो नहर टूटी हुई हो।

हम उस पेड़ पर पहुँच गये और ऊपर को जाता हुआ रास्ता भी दीखा। परन्तु बिना सुनिश्चित हुए कदम बढ़ाना उचित प्रतीत न हुआ। थोड़ी दूर पर पीछे खेतों में, धुआँ उठता हुआ दिखाई दिया। अनुमान किया कि मकान होगा। सचमुच वहाँ मकान ही था। वहाँ रास्ता पूछा तो भीतर से ही एक आदमी कुछ गुनगुनाने लगा। आखिर एक लड़का बाहर निकला, और थोडी दूर आकर वह रास्ता समझा गया। हमने ठीक ही राह पाई थी।

चढ़ते-चढ़ते हम एक मैदान में पहुँचे। वहाँ पर खेत ही खेत थे। पहले तो मकानों के कोई निशान ही न थे परन्तु आगे बढ़ने पर मकान दीखे। आश्वासन हो गया कि हम भटके नहीं हैं। रास्ता कीचड़ ही हो रहा था। वर्षा ऋतु में गाँव के रास्ते तथा खेतों के रास्ते ऐसे हो ही जाते हैं। पूछते-पूछते हम लोग जा ही पहुँचे। माताओं ने आवाज़ दी। टार्च के सहारे ही तो हम चल रहे थे। उस गोबर तथा गोमूत्र से सने रास्ते में से पावों को सान कर हम जा पहुँचे, उस घर में जहाँ मातायें बोल रही थीं।

एक ग्रामीण ने कृपा करके अपने घर में आश्रय दिया था। उस प्रधान वाले छप्पर में तो हमें बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ता। वह चूता भी था अत्याधिक।

अल्मोड़े से हम जितना आगे बढ़ते हैं, पर्वतों में, उतना ही शिक्षा तथा सभ्यता का अभाव मिलता है। वे प्रदेश जिनके लोग नीचे चले जाते हैं मैदानों में, उनमें और ही बात है। परन्तु जिन लोगों का पैदा होना, जीना तथा मरना वहीं पर होता है और शिक्षा भी नहीं हो पाती वे तो निपट मूढ़ हैं। हमारा भी वास्ता ऐसे ही, परन्तु चालाक लोगों से पड़ा था। वे हम लोगों से अधिकाधिक पैसा बटोरना चाहते थे।

बहुत मनाने पर वह घर वाला आलू लाया। दो रुपये का घी भी लिया गया। परन्तु बाद में पता लगा कि उसने तो ठग ही लिया, भाव से दोगुने में दिया। बर्तन भी दिये परन्तु हर बात में अनिच्छा दीखती था। लकड़ी भी दी और कहने लगा, यह दो आने की होगी। सभी ने मिलकर उसे बताया और मैंने तो स्पष्ट ही कह दिया कि लकड़ी का दाम तो हम देने के नहीं। खाया पीया और उस कमरे

में भोटियों की भेडों की तरह पड़ गये। सोने में 11 बज चुके थे। थकावट भी थी, परन्तु नींद जैसी आनी चाहिये थी, नहीं आई।

ये हमारी यात्रा के नूतन अनुभव थे। आखिर आगे निकलने के लिये कुछ मूल्य भी देना था। मैं तो इसे जानता ही था, और तैयार होकर चला था।

आगामी पड़ाव था सिरखा का गाँव। बीच में एक पहाड़ लाँघना था। लगभग तीन मील की लगातार चढ़ाई थी। प्रातः हम लोग जल्दी ही उठ गये। रास्ता दीखने लगा तो चल दिये। नीचे सड़क पर आकर, स्नानादि करके, हमने पुल पार किया और चढ़ाई चढ़ने लगे। वर्षा अब भी हो रही थी।

आज नरेन्द्र का बोझा उसे खलने लगा था। अटैची भरी थी और नरेन्द्र बोझा उठाने का अभ्यस्त भी न था। कठिनाई प्रतीत करने लगे। आखिर दूसरों को हाथ बंटाना पड़ा। उनकी शिथिलता स्पष्ट प्रतीत हो रही थी। चढ़ाई चढ़ी और फिर उतरे। उतार भी लगभग उतना ही था। कुछ मैदानी रास्ता आता है। जिसमें दो फर्लांग की चढ़ाई होगी। धूप में बैठकर आराम करने लगे तो नरेन्द्र ने कहा 'मेरा घुटना खुल गया है।' उस पर मरहम पट्टी भी उन्होंने की। यह एक नई रुकावट हमारे रास्ते में थी। उस समय तो लोगों ने उनका खूब मज़ाक बनाया। नरेन्द्र का शरीर बलवान् होते हुए भी नाजुक है। देखने में वे सुडौल थे ही, परन्तु इस प्रकार की दौड़ धूप का कभी अवसर न मिला था। आराम से रहने के ही अभ्यस्त थे।

हम लोग 11 बजे सिरखा पहुँच गये। जाते ही खाने-पीने के सामान का आयोजन हुआ। परन्तु गाँव में सामान जुटाने में देरी लगना स्वाभाविक है। रसोई ने चार घण्टे लिये।

सिरखा का गाँव बहुत बड़ा है। खेती भी बहुत सुन्दर प्रतीत होती थी। वहाँ के आलू तो अपनी मिठास में अतुलनीय ही थे। हम लोग स्कूल में टिके थे, आजकल वहाँ हड़ताल थी।

नरेन्द्र की दुकान खुली। दवाइयाँ खूब बिकीं। नरेन्द्र तो अपना कोट-पेंट भी बेच रहे थे। परन्तु एक रुपये पर सौदा अटक गया।

हम लोग खा पीकर चलने को तैयार ही थे कि गोविन्द वल्लभ, स्वामी जी आदि भी आ पहुँचे। खूब मज़े की रही। वे लोग खाकर चले थे। हमारा विचार था कि हम आज आश्रम देख कर, सूसा अथवा इससे भी आगे निकल जायेंगे, परन्तु आज यह असम्भव था। खाने-पीने में इतनी देरी लग गई थी, जिसकी हमने गिनती ही उस समय न की थी। फिर से सभी इकट्ठे हो गये।

(36)

नारायण आश्रम

खेला वाले नारायण स्वामी जी से पाँच वर्ष पूर्व अल्मोड़े में भेंट हुई थी। उनकी सौम्यता तथा माधुर्य ने मुझ पर बहुत सुन्दर प्रभाव डाला था। उनसे आन्तरिक साधना के विषय में भी कुछ चर्चा हुई थी। उनके प्रति सहज प्रीति का भाव मेरे हृदय में था ही। मैं समझ चुका था कि वे एक उच्च कोटि के साधक हैं और उदार हृदय है। उनका आश्रम सिरखा से तीन मील की दूरी पर है। उनसे मिलते हुए जाने की इच्छा थी। थोडा चक्कर तो पड़ता ही था, परन्तु आश्रम छोड़ कर जाये भी न बनता था।

मातायें थक रही थीं। उनकी अवस्था को देखो तो अधिक पुरुषार्थ कर रही थीं। आज प्रातः की चढ़ाई, प्रतीत होता था कि उन्हें खली है। सिरखा के साथ लगे पहाड़ को पार कर हम लोग आगे चल दिये। रास्ता खराब है। एक छोटी सी बटिया चट्टानों पर से कूदती-फाँदती चली गई है। इधर आबादी बिल्कुल ही नहीं, केवल दूर नंगी चोटियाँ दिखाई पड़ती हैं।

लगभग आधा मील दूरी से आश्रम दिखाई दिया। एक मैदानी स्थल पर वह भवन विस्तार, उस पर्वतमाला की पृष्ठ भूमिका में, सन्ध्या वेला में, कितना प्यारा लगता था। मुझे अद्वैताश्रम, मायावती, का स्मरण हो आया। मैं लगभग चार वर्ष पूर्व अपने कुछ मित्रों के

साथ वहाँ गया था। वह तो घोर जंगल से ढकी ऊँची पहाड़ियों के बीच एक टीले पर बसा है। पुष्पों की उन दिनों बहार थी। वह भी दिव्यस्थल प्रतीत होता था, और यह भी। नारायण आश्रम बहुत विस्तृत है और उसी प्रकार से वह पर्वतमाला भी। लगभग सभी ओर काफी दूरी पर, कुछ मील तो होंगी ही, एक पर्वतमाला का सिलसिला है जिसकी नंगी चोटियाँ बताती हैं कि वे जाड़ों में हिमाच्छादित रहती हैं। अन्य पर्वतों पर प्रायः घास ही है, वृक्ष बहुत कम। अतः सभी खुला-खुला सा प्रतीत होता है और विस्तार का भान भी।

वहाँ पर पहुँच कर उस स्थल के विस्तार का पता चलता है। भव्य भवन के अतिरिक्त और भी अनेक मकान थे। एक बड़ा मकान तो अभी बन ही रहा था। आश्रम को बनते वर्षों हो गये हैं और अभी काम पूरा नहीं हुआ।

आश्रम की प्रत्येक वस्तु अच्छी से अच्छी है। उससे बनवाने वाले की रुचि, कलाप्रियता और उदारता टपकती है। उस दूर प्रदेश में इस प्रकार का निर्माण वास्तव में विस्मयकारक है।

स्वामी जी से भेंट हुई। बहुत दिनों के बाद मिले थे। मुझमें भी परिवर्तन था और उनमें भी। अभी हाल ही में वहाँ श्री कृष्ण विग्रह की स्थापना केन्द्रीय भवन के ऊपरी भाग में हुई थी। वहाँ संकीर्तन के लिये सभी लोग 5.30 बजे के लगभग जुट गये। उस स्थल पर कलापूर्ण कीर्तन और भी अच्छा लग रहा था। वहाँ से भागने का तो प्रश्न ही न था। रात वहीं रहना था।

उस साँझ हम आश्रम के ही अतिथि थे। सभी प्रकार की सुविधा हमको दी गई। ओढने-बिछौने तक का वहाँ सुचारु प्रबन्ध था। आश्रम के स्वामी के अनुकूल ही तो आश्रम की व्यवस्था थी।

आश्रम की गय्याँ बड़ी भली मालूम होती थीं। उन घास से लदे पर्वतों पर प्रतीत होता था कि वे खूब भर पेट चरती हैं और प्रेम तथा यत्न से रखी जाती हैं।

अगले दिन हम लोग प्रातः सात बजे के बाद ही आश्रन से चल पाये। कई कारणों से देर हो गई। सोचा था कि आश्रम और उसके स्वामी की फोटो लेंगे, परन्तु बादलों का धुआँ था। धूप ही न थी।

(37)

खेला से भी आगे

गोविन्द वल्लभ तथा दुर्गा दत्त को पीछे छोड़ हम लोग आगे बढ़े। हमें वह सूचना तो मिल ही चुकी थी कि हमारे कुली के लिये बोझा भारी हो रहा है। अत: सम्भवत: वह साँझ तक खेला पहुँच पायेगा, परन्तु इतनी जल्दी हिम्मत हारने वाला मैं न था।

सूसा अगला गाँव था। वहाँ पर हमें डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की सड़क मिली। इससे तीन मील की दूरी पर एक और गाँव है। वहीं पर खाने का निश्चय था। मैं आगे जा रहा था। वहाँ पहुँचते-पहुँचते दस बज चुके थे। भूख व्याकुल कर रही थी। सोचा था कि आगे जाकर खाने का सामान जुटा रखूँगा जिससे जल्दी ही खाना हो जाये और हम लोग आगे बढ़ सकें। वहाँ दुकान नहीं थी। एक ग्रामीण ने मुझे इशारा करके रास्ता दिखा दिया कि उस घर में चावल मिल जायेंगे।

एक माता से मैंने पूछा, 'छाछ है माँ।' उसने कहा 'छाछ तो नहीं है, आलू हैं, खाते हो? उन शब्दों में महान् मातृत्व की झलक स्पष्ट थी। भूख मुझे थी ही। मैं बच्चे की तरह मचल कर वहीं बैठ गया, और बोला, 'भूख लगी है मैय्या! खाऊँगा'। वह एक प्लेट भर आलू ले आई। उबले हुए थे और अभी खूब गर्म थे। मैं अभी वे समाप्त भी न कर पाया था कि उसने और दे दिये। नमक भी एक पत्ते पर लाकर रख दिया।

उसके पास आटा था। बर्तन वह देने को राजी थी। आलू भी थे ही और स्थान भी। मैंने यही निश्चय किया कि यहीं खाना होगा। खेला अभी पाँच मील था। भूखे चलना असम्भव था, माताओं के लिये। मैं वहीं बैठा बाकी लोगों की बाट देखने लगा।

उनके आते ही रसोई का काम होने लगा। खा-पीकर मैं और कर्पूरी लाल 12.30 बजे ही खेला के लिये रवाना हो गये। उस दिन का रास्ता भी भूलने का नहीं। कड़ाके की धूप थी। रास्ते में पत्थर थे, प्राय: सारी उतराई से और धूप से वे तपते थे। तिब्बत

के जाड़े के बाद यहाँ गर्मी विशेषकर खलती थी। पसीने की धारायें बह रही थीं।

यहीं कहीं रास्ते में हमें वह कुली मिला। बेचारा चला ही आ रहा था। बोझा तो भारी था ही, इसमें सन्देह नहीं। यह आशा करके कि पाँच बजे तक वह वहाँ खेला पहुँच जायेगा तो भी हम आगे चल देंगे, हम आगे बढ़े।

रास्ता नदी में उतरता है। यह नदी काली नहीं, उसकी एक सहायिका नदी है। वहाँ से खेला के लिये चढ़ना होता है। थोडी सी चढ़ाई खड़ी है। उस धूप में चढ़ाई ने व्याकुल कर दिया। कर्पूरी लाल तो पानी के लिये विह्वल से हो उठे। परन्तु जल्दी ही धूप चली गई। बादल आये और ठण्डा हो गया। हम तो पसीने में नहाये से 3.30 बजे खेला पहुँच गये। पहुँचते-पहुँचते मुझे तो भूख लग आई थी। मैं दिन में पेट भर भी खा ही न पाया था, उन आलुओं के कारण। कुली के लिये दौड़ धूप की, परन्तु व्यर्थ। डाकघर के भी दर्शन किये। अखबार से पता चला कि मास्टरों की और डाक की दोनों की ही हड़तालें समाप्त हो गई हैं।

मातायें अभी पीछे थीं। नरेन्द्र आ पहुँचे, लगभग पाँच बजे, परन्तु कुली न दिखाई पड़ा। फिर मातायें आई और लगभग 5.30 बजे कुली भी आया। हम विचित्र परिस्थितियों में थे। कुली के बिना हमारा आगे बढ़ना कठिन था, और कुली का प्रबन्ध नहीं हो रहा था। यहाँ रात रह जाने का अर्थ था कि हमारा आगामी सारा कार्यक्रम गड़बडा जाये। उसके लिये मैं तैयार न था। एक रास्ता सूझा। नरेन्द्र ढीले हो ही रहे थे। सामान उनके साथ छोड़ा जाये और वे गोविन्द वल्लभ के साथ मज़े-मज़े चले आयें। इसमें सभी बातों का हल था। मैंने एक पत्र उनके लिये लिख कर उनके हाथ में दिया। वे इसके लिये तैयार ही थे। कर्पूरी लाल ने अपनी खाल बाल छोड़ दी। माताओं को रवाना किया। वे थक तो रही थीं पर बिना चले बात भी न बनती थी। बिस्तर दुकानदार को सौंप, मैं और कर्पूरी लाल भी चल दिये।

तीन मील की दूरी पर दुकानें थीं। वहीं हमें रात व्यतीत करनी थी। सन्ध्या हमें वहीं खेला में हो गई थी। अंधेरा रास्ते में हुआ, परन्तु चलने में कठिनाई न होती थी। ठण्डा हो रहा था। हम लोग काली के किनारे पर आ रहे थे। वह सन्ध्या भ्रमण बहुत ही आनन्दप्रद रहा।

जहाँ दुकान थी, उस स्थान को बेल कहते हैं। रात को सूक्ष्म सा ही खाना हुआ। माताओं ने अपने लिये खाने का प्रबन्ध किया, चावल ले लिये। हमारे प्रात:राश के लिये रोटियाँ बनाई गईं।

अगले दिन प्रात: हम लोग पाँच बजे धारचूला पहुँच गये। सात ही मील का रास्ता था, और मैदान ही। काली के किनारे-किनारे जंगल में से ठण्डे-ठण्डे में चलना था। बिल्कुल थकावट नहीं हुई।

धारचूला नदी की घाटी में बसा है। दूर से सुन्दर दीखता है। कदली-कुँज और हरित लहराते हुए धान के खेत, उसकी आभा को और भी बढ़ाते हैं। वहाँ पर आम के भी बगीचे हैं।

खा पीकर कुछ आराम हुआ। केलों की फीस्ट रही। आम भी चखे। परन्तु इतने अच्छे न थे। एक माता यहाँ पर बुखार से पकड़ी गई। लगभग तीन बजे हमने रास्ता लिया, जब उसका बुखार कम हुआ।

(38)

कालिका से अस्कोट

हम लोग जितनी जल्दी हो सके, जाना चाहते थे, परन्तु सभी बातें तो अपने हाथ में रहती नहीं। सभी को साथ लेकर चलना था। साथ में मातायें भी थीं जो इतने दिन चलने के कारण अश्रान्त थीं।

सोचा था कि कालिका से दो मील आगे एक गाँव में रात को रुकेंगे। परन्तु यहाँ कुछ और ही होने वाला था। कालिका, धारचूल से पाँच ही मील दूर है। हम लोग जब तीन बजे चले तब तीव्र धूप थी, पसीना आता था और चलना अच्छा न लगता था।

कालिका तक रास्ता बिल्कुल मैदानी है और पत्थर भी रास्ते में कम हैं। मैंने तो जूता गर्ब्यांग से आगे चलते ही छोड़ दिया था। वर्षा ऋतु में पहाड़ में जूता पहनना मुझे भार सा प्रतीत होता है। इसीलिये रास्तों के कंकर-पत्थर भी सोच में आते थे।

हम लोग धीरे-धीरे चलते चले गये। मातायें हमसे लगभग एक मील पीछे होंगी। कर्पूरी लाल तथा मैं कालिका से एक मील पर रहे होंगे जब सामने के पहाड़ पर ज़ोर की वर्षा होती हुई प्रतीत हुई। देश में वर्षा का दूर से दृश्य इतना स्पष्ट और सुन्दर प्रतीत नहीं होता। पर्वतों में स्पष्ट पता चल जाता है कि वहाँ सामने पर्वत की ढाल पर वर्षा है और वह बढ़ती चली आ रही है। ऐसा ही हो रहा था। बादल इधर भी घिर रहे थे और वर्षा आती हुई प्रतीत हो रही थी। थोड़ी ही देर में बूँदें आईं। हम लोगों ने अपने-अपने छाते-बरसाती लेकर कदम बढ़ाये।

वर्षा मूसलाधार आई। छाता भी बहुत रक्षा नहीं कर पाया। बरसाती भी केवल ऊर्ध्व भाग की रक्षा करने में समर्थ थी। सोचा था कि कालिका में जाकर रुकेंगे। परन्तु कालिका गाँव तो अभी एक मील से अधिक था। इस दिन की वर्षा तो क्वेटी वाली वर्षा का स्मरण करा रही थी। देखते-देखते रास्ते पर पानी की धारायें बहने लगी और रास्ता नदी-सा हो गया।

कालिका का मन्दिर छोटा सा है और वह है रास्ते के पास ही, विशाल पेड़ों की छाया में। बकरे काटने का स्तम्भ देखकर निश्चय हो गया कि वही कालिका गाँव की कालिका है। हमें तो उससे कुछ लेना देना न था। आगे बढ़ते गये और आखिर गाँव में भी पहुँचे। एक दुकान में आश्रय लिया। छोटी सी दुकान थी और वह भी सूनी। दुकानदार ने कृपा करके हमें सिर छिपाने की अनुमति दे दी।

कालिका गाँव एक पर्वतीय नदी के आधा इस पार बसा है और आधा उस पार। सड़क पर डिस्ट्रिक्ट बोर्ड का पुल बह चुका था। एक लट्ठा डाला हुआ था जो एक ओर से बहुत ऊँचा था और दूसरी ओर से नीचा। नदी में बाढ़ आने पर वह लट्टा भी अधिकांश डूब

जाता है। आर-पार जाना नहीं बन पड़ता। वर्षा ऋतु में कभी-कभी यात्रियों को पड़े रह जाना पड़ता है।

नदी में बाढ़ आने की सम्भावना थी, लगभग एक घण्टे में। हमें इसी बीच उस पार हो जाना चाहिये था। इस पार तो वैसे भी रुकने के लिये स्थान न था। दुकान छोटी थी। पास में एक भोटिये का खाली मकान था परन्तु उसका चौकीदार स्थान देने के लिये तैयार न था। आँखें उत्सुकता से रास्ते पर लगी हुई थीं कि कब मातायें आयें और कब हम उस पार हो जायें। उनको पहुँचते-पहुँचते पाव घण्टा लगा परन्तु फिर भी दीदी और खण्टी (जिनको बुखार हुआ था) न आ पाईं।

पार जाने का निश्चय कर लिया था। सहायता की आवश्यकता प्रतीत होती थी। मातायें, अपने बोझों सहित, स्वयं लट्ठ से उस पार न जा सकती थीं। रामगंगा के झूले की याद ताज़ी हो रही थी। एक व्यक्ति सहायता के लिये मिल ही गया। ज़रा वर्षा कम होते ही बाकी सबको पार करवा दिया। मैं, दोनों माताओं को जो पीछे थीं, ढूँढने लौटा। लगभग एक फर्लांग जाने पर वे आती दीखीं। रुग्णा ने एक छप्पर में आश्रय लेना उचित समझा था। इसीलिये वह उतनी पीछे रह गई थीं। हम सभी पार हो गये। नदी बढ़ती चली आ रही थी, इसमें सन्देह 'नहीं।

लगभग 6 बजे थे। मेरा विचार तो आगे चलने का था ही, परन्तु मातायें भीगी हुई थीं। एक तो रुग्णा ही थी। उनकी चलने में अरुचि स्पष्ट थी। रहने का निश्चय हुआ।

हमारे उस पार होने से पूर्व ही उन्होंने आश्रय ढूँढ़ निकाला था, परन्तु काफी कोशिश करने पर। गाँव में यात्री की विचित्र परिस्थिति होती है। रुकने को कोई दुकान या होटल तो कुछ होता नहीं। किसी के घर में ही सिर छिपाया जा सकता है, परन्तु विरले ही गाँव वाले यात्रियों की इस कठिनाई को अनुभव कर पाते हैं। जिस पर स्वयं न बीती हो वह कल्पना भी नहीं कर सकता। अल्मोड़े से जितना उत्तर-पूर्व की ओर जायें, मेरी समझ में, गाँव वालों की सहानुभूति प्राप्त करना उतना ही कठिन प्रतीत होता है। उतनी ही अधिक अनुदारता तथा निष्ठुरता मिलती है। जहाँ शिक्षा का अभाव है, वहाँ

तो यह बात नितान्त सत्य है। कालिका ऐसा ही गाँव था जिसके आस-पास में कोई स्कूल भी न था। लोग अपढ़, निपट गंवार थे। एक ने आग्रह करने पर आखिर आश्रय दे ही दिया।

रात को माताओं का तो खाना-पीना होता ही न था। कर्पूरी लाल तथा मैं तो खाते थे। वह भाई एक चिचिन भी ले आया (आटा तो पास में था ही)। उसी के चूल्हे पर दीदी ने रोटियाँ सेंक दीं। बेचारे की पत्नी, उसे हमें आश्रय देने के कारण, भला बुरा कह रही थी। वह समझती थी कि हम डाकू हैं, परन्तु उस घर में था ही क्या जिसे हम ले जाते। सूना था वह घर। पति-पत्नी और एक रुग्ण शिशु, यही थे उस घर में। आटा, चावल भी तो उनके पास न था। आधा भुट्टा खाकर कर्पूरी लाल को भुट्टे की चाट लगी, परन्तु वहाँ तो कोई भी वस्तु, पैसे लेकर भी, कोई गाँव वाला देने को तैयार न था। दूध के लिये एक माता लुटिया लेकर गाँव भर में घूम आई परन्तु छाछ भी उपलब्ध न हुई।

अगले दिन पाँच बजे हम लोग रास्ते लगे। पहली साँझ के भीगने ने माताओं के अंग शिथिल कर रखे थे। अतः उनकी गति बहुत मन्द थी। तिस पर एक रुग्णा भी थी। उनको औषधि दी जा रही थी। उसने कल कुछ भी न खाया था। बिना कुछ खाये पीये वह चलेगी कैसे? उसके लिये रास्ते में एक भैंस वाले से दूध ढूँढ़ा गया। कर्पूरी लाल तथा मैं दूध लेने रुक गये। बहुत मीन मेख के बाद भैंस दुही गई और फिर बहुत आराम से दूध गर्म किया गया। एक रुपये सेर का भाव था। लाचारी थी, दो रुपया सेर होता तो भी लेते ही। पाव भर दूध लाकर उसे दिया। इसमें हमारा लगभग एक घण्टा लग गया।

मैदानी रास्ता था। चलते-चलते बलवाकोट आये। दुकानें वीरान सी थीं। खाने को कुछ न था। जौलजीबी में जाकर खाना खाने की सोच रखी थी। जौलजीबी वहाँ से थोड़ा ही होता है – लगभग नौ मील। नौ बज चुके थे जब हम बलवाकोट से निकले। धूप तेज़ हो रही थी। एक मील आते ही धूप में चलना खलने लगा था। तिस पर यहाँ चढ़ाई लेनी होती है। रास्ता जंगल में से होकर जाता है।

और ऊँचे के कारण ठण्डा भी होता है। अतः चढ़ाई इतनी खली नहीं। फिर उतरे और नदी के किनारे-किनारे ज़रा ऊँचाई पर पहुँच गये। हम लोग गर्म प्रदेश में थे। जौलजीबी तो 3,000 फीट के कुछ ही अधिक होगी।

यात्रा व्यक्ति को धैर्य तथा कष्टसहिष्णुता का पाठ बलात् पढ़ा देती है। धूप बढ़ रही थी। परन्तु जाना आवश्यक था। आश्रय भी अन्यत्र था नहीं। चलते-चलते आखिर जौलजीबी भी दीखा। कर्पूरी लाल, दीदी तथा मैं आगे थे। दीदी को उस दिन का रास्ता और भी खला। हमने रास्ते में आराम नहीं किया और दीदी ने भी हमारा साथ छोड़ना पसन्द न किया। बाकी लोग धीरे-धीरे पीछे आते रहे।

हम लोग जौलजीबी के लिये सड़क से उतर आये। सोचा था कि दुकान में डेरा करेंगे, खायेंगे और आराम करके शाम तक अस्कोट पहुँच जायेंगे। परन्तु यहाँ तो और ही लीला थी। जौलजीबी में किसी दुकानदार के पास खाद्य सामग्री थी ही नहीं, यदि कुछ थी भी तो देने को तैयार न था। जो दुकानदार आटा चावल रखता था, वह दुकान को ताला लगा, ऊपर मकान में था। उसकी बहुत अनुनय विनय की गई, परन्तु वह टस से मस न हुआ। शायद उसके पास रहा ही न हो। उसके पास भुट्टे थे। ढेर लगा था परन्तु थे पके। दो भुट्टे उसने मेरी भेंट किये। छः भुट्टे साथ वाला दुकानदार उसी से ले आया। हम लोग इसी उधेड़बुन में थे कि इनका काम कैसे किया जाये। दीदी दिखाई न पड़ती थीं। नारियल प्राप्य था जो क्षुधा को बहला भर ही सकता था। सो किया।

दीदी हमें खोज रही थीं और हम दीदी को। लगभग पाव घंटे बाद दीदी भी आ गईं और बाकी सब भी। दीदी की झोली में 10-12 भुट्टे थे। हमने उन्हें बता दिया कि खाने को और कुछ न मिलेगा। ये ही भूनिये और खाइये। एक चूल्हे पर अड्डा जमाया गया। साथ ही चाय के होटल वाला था। उसको भी थोड़ा परेशान किया। भुट्टे भुनने लगे और चबाये जाने लगे। उसी आटे-चावल वाले दुकानदार ने सुझाया कि यहाँ हरे भुट्टे भी मिल जायेंगे (मूल्य से), और मुझे एक व्यक्ति के पास जाने को कहा। हमने एक रुपये

के लिये और चुस्ती से भूनने और चबाने का कार्यक्रम चलने लगा। भुट्टे अच्छे थे, पेट भरने योग्य। भूख में जल्दी-जल्दी चलते चले गये और साथ-साथ गौरी गंगा का शीतल जल। उस रुग्णा को भी भुट्टे खिलाये। उसको ज्वर फिर नहीं आया। सभी ने 6-6 बड़े भुट्टे तो खाये ही होंगे। भीतर कुछ शान्ति हुई। थोड़ा आराम किया।

जौलजीबी अल्मोड़े जिले में प्रसिद्ध स्थान है। जैसे बागेश्वर में उत्तरायणी को मण्डी और मेला लगता है, इसी प्रकार यहाँ भी मण्डी लगती है, परन्तु उत्तरायणी से पूर्व ही। चौंदास तथा व्यांस वाले व्यापारी तिब्बती माल लाते हैं। यहाँ पर मुसलमान भी काफी संख्या में हैं। धारचूले में भी उनके कुछ घर हैं। जौलजीबी में काली तथा गौरी का संगम है।

तीन बजे से पूर्व ही हम लोग अस्कोट के लिये रवाना हो गये। लगभग दो मील मैदान जाकर गौरी को पार करना होता है, फिर चढ़ाई लगती है। लगभग तीन मील होगी। हम साँझ को 6 बजे अस्कोट पहुँच गये थे। मातायें हमसे घण्टा भर बाद में आईं।

अस्कोट का नाम बहुत सुन रखा था। यहाँ के केले और शहद प्रसिद्ध हैं। अस्कोट में बस्ती बहुत सुन्दर दीखती है। सन्ध्या समय जब हम अस्कोट पहुँचे, सूर्य नारायण सामने वाले पहाड़ के पीछे जा चुके थे। पर्वत की धार पर, अगल-बगल धानों के लहलहाते खेत, और केलों के पेड़ सुन्दर दीखते थे। बाजार भी देखने में अच्छा है, परन्तु आजकल दुकानें सूनी ही लगती हैं। आटा चावल मिल जाये तो बहुत मानना चाहिए।

अस्कोट में यात्रियों के लिये धर्मशाला है। उसी में दुकान है। परन्तु उसके पास आटा न था। बाजार में आटा केवल नीचे वाली दुकान में था। आटा ले लिया गया, इस भय से कि कहीं समाप्त न हो जाये और दाल लेकर साफ करनी आरम्भ कर दी। माताओं के आने तक हमने इसका आयोजन कर रखा था।

उस रात को हमने अंधेरे में बिना देखे रोटियाँ खायीं। यदि देख पाते तो भूखे भले ही रहते, गले से नीचे उन्हें उतारना कठिन हो जाता। रोटियों का काला-काला रंग और बदबू, घोड़ों की लीद सी।

भला कैसे खा पाते? दूसरे दिन प्रातःराश के समय यह पता चला। उस आटे का रुपये सेर का भाव था और सेर भी 12 छटाँक का लगता था। मियाँ जी रोज़ों में भी इस कमाई पर तुले थे। उसकी इस महती कृपा के बिना भी तो रात कटनी कठिन थी।

(39)

डीडीहाट

कृष्ण पक्ष था। तिथि तो कहनी कठिन है, परन्तु रात को चाँदनी छिटक रही थी। आधी रात को आँख खुल गई तो वह चन्द्रिका का वैभव देखने का मिला। उस धर्मशाला के बराण्डे में मेला सा हो रहा था। बहुत से तो कैलाश से ही आने वाले थे। 4.30 पर ही हमने अपनी पोटलियाँ बटोरीं और धीरे-धीरे लोगों को लाँघ कर बराण्डे से नीचे आये। सड़क पकड़ी और चल दिये। सड़क के बारे में रात ही जान रखा था।

यहाँ से डीडीहाट केवल सात मील होता है। रास्ता पहाड़ की धार पर से होकर जाता है और काफी ऊँचाई पर से है। अस्कोट भी ऊँचा है। पाँच बजते-बजते एक धुआँ सा उठने लगा था। उस सूर्योदय के पूर्व से समय, बादलों की धुँधली छाया में, उन घास के हरे-भरे मैदानों में, हम पहाड़ पर चले जा रहे थे। वह दृश्य अति ही प्रिय था। कुछ वर्ष पूर्व मैंने इसी तरह प्रातः, धौलादेवी का दृश्य देखा था। वहाँ देवदार का जंगल है, मन्दिर के सामने घास का मैदान है। मन्द सा प्रकाश था, बादल का धुआँ अलक्षित ही बरस रहा था। मैं वहाँ से निकला तो मानो उस अलौकिक सौन्दर्य को देखकर तन में बिजली सी दौड़ गई। वैसा ही उस रास्ते पर लग रहा था। मन मयूर की तरह नाचता था।

उस दिन पानी की काफी प्रतीक्षा करनी पड़ी। मिला तो खूब शीतल और सुस्वादु ही। मैं तो अस्कोट के नाले पर अंधेरे में ही

नहा आया था। बाकियों ने रास्ते में नहाया और हमने उन रोटियों को खाने का प्रयत्न किया। मैंने तो, दीदी के डर से, जितना भी गले से नीचे उतार पाया, उतारा। अपने ही मन की सी करता तो उन्हें दूर जंगल में फेंकता जहाँ जानवर की भी नज़र न पड़ती। उनकी सोचकर मितली सी होने लगती है, आज भी।

वर्षा भी आई परन्तु मन्द-मन्द। ऐसी वर्षा चलने में दु:खदायी नहीं होती। वह पसीना नहीं आने देती। शरीर भी गर्म नहीं हो पाता। व्यक्ति थकता भी नहीं और भीगता भी नहीं। उन घास के मैदानों में होते हुए, रास्ता बाद में जंगल में से गुजरता है। हम लोग डीडीहाट की देख में आ पहुँचे। बाज़ार अभी आधा मील ऊपर था। वह रास्ता भी कट गया। सात मील काटते पता न चला था।

बुर्फु के मोहन सिंह जांग पांगी, रिटायर्ड पटवारी, आजकल डीडीहाट में ही थे। दीदी की भी कुछ मित्र भोटिया स्त्रियाँ यहाँ रहती थीं। मोहन सिंह जी मिले। उन्होंने आतिथ्य किया। हमारे साथ दिन का सम्बल बाँध दिया। सान्देषों में हमारा खाने का कार्यक्रम था। उनके पुत्र ने, जो पटवारी था, दुकानदार के लिये पत्र दे दिया। इतने दिनों में मोहन सिंह जी का मिलना यात्रा के आदि और अन्त को एक कर रहा था। दीदी के परिचय वाले स्थान पर कुछ औषधि वितरण हुआ। माताओं को आगे भेजकर मैं दवाई देकर उनसे सान्देषों में जा मिला। वहीं पर भोजन हुआ। लगभग 1.30 बजे हम लोग खा पी चुके थे।

(40)

मसमौली

अब हमें सीधा रास्ता छोड़ कर रेतौली मुआनी जाना आवश्यक था। डीडीहाट से आगे का पड़ाव, थल, 12 मील होता है। वहाँ से रेतौली आठ मील है। यदि हम ठीक रास्ता पकड़ लेते तो हम

12 मील में झूले पर पहुँच सकते थे। वहाँ से रेतौली दो मील से भी कम होता है।

रेतौली में दीदी के परिचय की रानी साहिबा थीं। दीदी ने वचन दे रखा था कि वे मुझे वहाँ ले जायेंगी। इससे अच्छा अवसर फिर मिलना कठिन था, इसलिये अभी उधर से होकर जाने की सोची थी।

सानदेव से नीचे, लगभग तीन मील में, जंगलात की सड़क मिलती थी। वह सड़क हमें पकड़नी चाहिए थी। हम लोग सानदेव से थोड़ा ही आगे बढ़े थे कि वर्षा ने हमें घेर लिया। धारावाही बौछाड़ थी। जल, स्थल सभी सम हो गया। साथ में ज़ोरदार वायु थी। कर्पूरी लाल तथा मैं आगे निकल आये। रास्ता बाँये को मिलना चाहिये था – वह जंगलात वाला – परन्तु हम लोग चलते आये। रास्ते का निशान कहीं दीख न पड़ा। वास्तव में रास्ता हम ऊपर छोड़ आये थे। एक मील नीचे आने पर भान हुआ कि गड़बड़ में पड़ गये हैं। नीचे आने पर एक पथिक ने बताया कि सचमुच रास्ता ऊपर रह गया है। हम लोग लौटे। आधा मील भी न लौटे होंगे कि मातायें आती हुई मिल गईं। उनको उस सड़क का अन्दाज़ आ गया था। घास के मैदान में सड़क फटती थी और वहाँ उसके चिन्ह स्पष्ट न थे, इसीलिये हम धोखे में पड़ गये।

खूब हँसी उड़ाई गई हमारी और वे सभी खिलखिला कर हंसने लगीं। इसमें सन्देह नहीं कि वास्तव में हम बेवकूफ बन गये थे। लौटने को वे तैयार न थीं और मुझे भी धुन थी कि थल का चक्कर काटे बिना सीधे ही जाया जाये। मैंने सुन रखा था कि थल से ऊपर पाँच मील से एक गाँव-गाँव रास्ता जाता है और उससे भी उतना ही होता है। मैं इस रास्ते की खोज में था।

एक स्थान पर बालक गैय्याँ चरा रहे थे। उससे पूछने पर कुछ पता न चला। वर्षा तो रुक गई थी, परन्तु सड़क पर कोई था नहीं। 10-15 मिनट रुकने के बाद आगे बढ़ने का निश्चय हुआ। हम ठीक स्थान पर रुके थे। तीन फर्लांग नीचे कुछ लोग मिले, उन्होंने रास्ता बताया। नीचे से भी हम जा सकते थे। रास्ता हमने पकड़ लिया।

उनके कहने के अनुसार मुआनी वहाँ से पाँच मील था। अभी 4.30 का समय था। हम लोग सात बजे तक पहुँच सकते थे।

खेतों में भटकते हुए, कभी जंगल में और कभी मकानों में जाते हुए, हम लोग आगे बढ़ते चले गये। हमारा लक्ष्य हम जानते थे। दिशाभ्रम का प्रश्न न था। हम चलते चले गये। गाँव वालों से, दो मील चलने पर. जब हमने पूछा तो मुआनी सात ही मील बताया। विस्मय सा हुआ, परन्तु रुकना तो व्यर्थ था। गाँव रास्ते में पड़ते थे। किसी भी गाँव में रात रुक सकते थे।

वह यात्रा कर्पूरी लाल को खल रही थी। शरीर को तो कष्ट था सो था ही परन्तु मन झुँझला रहा था। झाड़-झंकाड़ कपड़े पकड़ने का यत्न करते थे और पाँव ढीलने का भी। उनका मन तो इस बेढब चलने से घबरा रहा था। जौलजीबी से उधर ही उनके पाँवों में छाले पड़े थे, दो स्थानों पर, और अब एक पाँव बिना जूते के था। देश के रहने वाले के लिये यह दु:खदायी है। मैं जानता था। परन्तु उस समय उनके साथ सहानुभूति करना तो मामला ही बिगाड़ना था।

मुझे उस दिन का चलना बहुत रुचा। स्वयं रास्ता खोजने में दिशा बोध कर चलने में, कितना आनन्द आता है, जिसमें अन्वेषण है और साहस भी।

यह तो सुनिश्चित था कि आज हम रेतौली न पहुँच पायेंगे। मुआनी झूले के पुल से इधर का गाँव है और वहाँ से दो मील हमें आगे जाना था। जंगल की सीमा पर गाँव था। उसी को लक्ष्य कर हम चल दिये और अंधेरा होने से पहले वहाँ पहुँच गये। उस गाँव का नाम मसमौली था और मुआनी वहाँ से दो मील से भी कम था। हमारा इधर आना व्यर्थ न हुआ। कल हम केवल चार मील चल कर अपने लक्ष्य पर पहुँच सकते थे।

एक ब्राह्मण गृहस्थ ने हमें आश्रय दिया। उनकी सौजन्यता सर्वथा प्रशंसनीय है। अतिथि सत्कार की मर्यादा ब्राह्मणों में अभी भी सजीव है और शिक्षित ब्राह्मणों में तो विशेषकर। उस के व्यवहार में प्रीति भी थी और सौहार्द भी। उन लोगों की समस्याओं का हल करने की हमने चेष्टा भी की।

प्रातः हमें एक पहाड़ी नदी पार करनी थी। उस नदी में बाढ़ आने पर लोग पार न जा सकते थे और हमारा किया कराया सभी पुरुषार्थ व्यर्थ हो सकता था। प्रातः जैसे ही हम तैयार होकर चलने को थे, ज़ोर की वर्षा आई परन्तु 15 मिनट में शान्त सी हो गई। उस बूँदाबाँदी में हम लोग चल दिये। जिनके यहाँ हम रहे थे उनका पुत्र हमें छोड़ने साथ आया।

उतरते-उतरते एक मील में हम उस नदी के किनारे पहुँचे। पानी तो अधिक नहीं था, परन्तु पार जाने के लिये ठीक स्थान न था। पास में घर था। उस घर के एक सज्जन हमारी सहायता के लिये आये। कमर तक के उस वेगवान प्रवाह में से हम एक-एक करके सभी पार हो गये। वह ब्राह्मण कुमार जो हमें छोड़ने आया था, वह भी इस पार हो गया। देखते-देखते ही नदी बढ़ गई। पानी मैला और मात्रा में अधिक हो गया। उसने पार जाने की चेष्टा की परन्तु पार जाना खतरे से खाली न था। उसी किनारे उसे प्रतीक्षा करनी थी, जब तक नदी का वेग कम न हो। बेचारा हमें छोड़ने को आया, स्वयं फंस गया। यदि हम पाँच मिनट पीछे आते तो सम्भवतः पाँच घण्टे का अन्तर पड़ जाता।

झूला, जहाँ रामगंगा पर पुल है, वह स्थान यहाँ से लगभग दो मील होगा। ठण्डे-ठण्डे में हम लोग पुल पार हो गये। पार की दुकानों पर केले थे। पेट भर केले खाये। इसी में हमें लगभग दस बज गये। रेतौली तो सामने दीखती ही थी और जाना भी दो मील से कम ही था। इसी से कुछ जल्दी न थी।

परन्तु हम गर्म जगह में थे। यहाँ पर धूप बड़ी तेज़ होती है। तिस पर खड़ी चढ़ाई थी। वे दो मील हमने डेढ़-दो घण्टे में काटे होंगे। वहाँ पहुँचने तक पसीने से तर थे।

रेतौली मुआनी ऊँचे में बसा है। बहुत सुन्दर स्थल है। प्राकृतिक सौन्दर्य की दृष्टि से, जलवायु की दृष्टि से, और आध्यात्मिक स्वप्नों की दृष्टि से भी। वहाँ पर हम मानो घर में ही थे। सभी प्रकार की सुविधा थी। हम सम्पन्न सद्गृहस्थ में अतिथि बन कर गये थे। किसी प्रकार के कष्ट की सम्भावना ही न थी। खूब आराम किया।

शाम को दवाई का दौर चला। इधर-उधर से भी लोग आये, जिनको आवश्यकता थी और पता चल गया था। छोटी रानी साहिबा की सरलता बहुत श्लाघ्य थी।

सन्ध्या-समय कुछ बादल थे। सूर्यास्त का समय था। मन भी घूमने के लिये उछला और टाँगें भी। आज तो केवल चार मील ही चले थे। मैं पश्चिम दिशा में एकान्त में दूर निकल गया। बादलों का धुआँ उठ रहा था। वहाँ पर पूर्ण निस्तब्धता थी। प्रकृति देवी अपने हरित वसन पहने मनोरम दीखती थीं। वहाँ पर मन यदि भजन के लिये बैठने को बाधित करे तो क्या आश्चर्य? मैं बैठा। बूँदों ने आकर मुझे भगा दिया। रात को बड़े आराम से सोये।

अगले दिन के कार्यक्रम की चर्चा तो पहले से ही चल रही थी। मैं जानता था खाकर ही जाना होगा और सभी को जाना होगा। दीदी हमें छोड़ने का साहस कदापि न कर सकती थीं। वह तो हंसी-हंसी में ही वहाँ रुक जाने की बात कर रही थीं।

(41)

वह कोटेश्वर की धार

दूसरे दिन प्रातः खाते पीते नौ से अधिक हो गये और रास्ता लगते 9.30 बज गये। थोड़ी दूर तक तो रास्ता ठण्डे-ठण्डे में जाता है परन्तु फिर उतरना होता है। दस बजे से ही धूप खलने लगी। खाकर चलना वैसे ही मुश्किल होता है और धूप में तो कहना ही क्या। यदि चढ़ाई भी हो तो कुछ पूछो न बात।

रास्ते में इतनी धूप कभी न लगी थी। हम लोग गहरे में आये, पहाड़ी नदी पार की और चढ़ना आरम्भ किया। प्यास भी खूब लग रही थी। पसीना भी खूब आ रहा था। पाँव बहुत धीरे-धीरे उठते थे। मन बेईमान होता था, छाया देखकर, रुकने के लिये। दाड़िम, धूप में लाभदायक भी होते हैं और खाने में अच्छे भी लगते हैं।

एक चढ़ाई चढ़ने के बाद रास्ते में लिये हुए दाड़िम खाये। साथ में रखे हुए आम और केले भी समाप्त किये। हम लोग 2-3 मील आये होंगे जब कि घड़ी में 12.30 बजे थे। हमें अभी एक और चढ़ाई लेकर सड़क पर पहुँचना था।

कुछ दूर तक रास्ता मैदान सा था, जंगल में से चीढ़ के पेड़ों की छाया में से। फिर नदी पार करके ऊपर ही ऊपर चढ़ता था। दोपहर का सूर्य था। माताओं के सिरों पर बोझे थे, अतः बहुत ही धीरे-धीरे वे चल पाती थीं। दीदी तो बहुत परेशान हो रही थीं। अन्तिम आधा मील तो बिल्कुल धूप ही थी। वहाँ पर पेड़ भी न थे। आखिर 2.30 बजे के करीब हम लोग मौलसरी के पेड़ के नीचे पहुँचे। वहीं पर सड़क थी। वहाँ पर मातायें तो सभी लेट गईं। परन्तु लेटने से रास्ता तो कुछ कटता ही न था। तीन बजे हम लोगों ने सड़क के पार पगडण्डी को पकड़ा। यहाँ से हमें 'बौर गधेरे' पर अल्मोड़े वाली सड़क को पकड़ना था। यहाँ से तीन मील की पगडण्डी हमें वहाँ पर ले जाती है। रास्ता पहाड़ी नदी के किनारे-किनारे खेतों में से जाता है। बादलों ने हम पर बहुत रास्ता छाया किये रखी। हम लोग 4.30 बजे सड़क पर पहुँचे। तभी बादलों ने भी बूँदाबाँदी आरम्भ कर दी। यह डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की वही सड़क थी जिसे हमने डीडीहाट के बाद छोड़ा था। मैं इस रास्ते पर कितनी ही बार जा चुका था। मेरे लिये यह किसी भी प्रकार की नूतनता से रहित था।

यहाँ से गणाई गंगोली आठ मील होता है। हम चाहते थे कि रात वहीं पहुँच जायें, परन्तु सभी कुछ गिनती में तो आता नहीं। हमने वर्षा का हिसाब ही न लगाया था और न उस थकावट का जो कोटेश्वर की धार ने पैदा की थी।

बाँस का पुल पार कर हम दो मील आगे निकल आये होंगे जब उमड़ते हुए काले-काले बादलों ने धमकाना आरम्भ किया। थोड़ी वर्षा में हम रुकेंगे नहीं, यह निश्चय था, परन्तु वर्षा तो ज़ोर की भी आई। चाहते हुए भी रुकने का स्थान तो था ही नहीं।

गणाई से एक मील इधर तपोवन नाम का एक स्थान है। वहाँ पर एक दुकान है। उसी को उद्देश्य बना कर चलते चले गये।

डायरी में जन्माष्टमी 20 तारीख की लिखी थी, परन्तु स्मार्त लोगों का जन्माष्टमी 19 अगस्त को ही थी। अत: हम लोगों को 19 प्रात: ही पहुँच जाना चाहिए था, अन्यथा यह दौड़ धूप व्यर्थ रह जाती। यही कारण था कि इतनी जल्दी हो रही थी।

लगभग 7.30 बजे शाम, काफी बरसते हुए में, हम लोग वहाँ पहुँचे। अंधेरा हो चुका था। दुकानदार से स्थान के लिये पूछा तो उसने एक टपकने वाला – बिना दीवारों का – तीन ओर से खुला छप्पर दिखा दिया। यह अच्छा स्वागत था। दीदी आई। उसका तो परिचय था। नमस्कार-पुरस्कार के बाद हमारे लिये एक नया कमरा खुल गया। दीपक भी जल गया। जलती हुई आग भी मिली और बिछाने को बोरियाँ भी। परिचय भी समय पर काम आता है।

रात उसी कमरे में सोये। वर्षा आधी रात को बन्द हुई होगी। प्रात: बरस न रहा था। हम लोग पाँच से पहले ही रास्ता लग गये।

(42)

रीठागाढ़ का धाम

गणाई में पहुँचने पर हमें रास्ता अच्छी तरह से दीखने लगा था। इस हिसाब से हमें जल्दी ही शेराघाट पहुँच जाना चाहिये था। गणाई से शेराघाट नौ मील ही होता है, परन्तु बीच में अभी कुछ और भी था।

गणाई से लगभग एक मील में एक पुल है। वहीं पर स्नानादि कर हम आगे बढ़े। मैं आगे ही कह आया हूँ कि यह रास्ता मैंने कई बार देखा है। वास्तव में इस रास्ते पर दो पुल आते हैं, परन्तु मुझे एक ही का ख्याल था। दूसरा मन में यह गलत संस्कार पड़ गया था कि गणाई नरुआघोल से दो ही मील होती है, जबकि वास्तव में वह तीन मील तो है ही, शायद ज़रा अधिक हो। उस दूसरे पुल से नरुआघोल बिल्कुल पास है। पगडण्डी भी जाती है। मैंने उस पुल

का इस पुल से गड़बड़ा दिया। पुल पर ही एक गाँव है। उसका रास्ता ऊपर जाता था। उसे पगडण्डी मानकर पकड़ लिया। इतने से भी कुछ नहीं बिगड़ता था, यदि मुझे दिशाभ्रम न हुआ होता। हम लोग आसानी से फिर ऊपर सड़क पकड़ सकते थे। उस दिशाभ्रम के कारण हमने रास्ता दायीं ओर को लिया और एक गाँव में पहुँचे। रास्ता पूछने पर पता चला कि नरुआघोल यहाँ से तीन ही मील है। खूब मज़े की रही। मैं इस ग्रन्थि को तब सुलझा न सका कि यह कैसे? दिशा को पूछ कर चल दिया, खूब कूदफाँद की। बेचारा कर्पूरी लाल मेरे साथ था। पाँव का कष्ट तो था ही, उनको मानसिक उत्ताप भी हुआ। मैं तो इसमें भी मज़ा मानता हुआ चलता गया। आखिर उसी सड़क को पकड़ा आगे आकर। यह शार्टकट लौंगकट बन गया। हमने लगभग एक घण्टा खोया और दो मील की फालतू सैर की। मातायें, रास्ते में बैठी हमारी बाट जोहती रहीं। नरुआघोल में ही उनसे फिर भेंट हुई।

दीदी के उदर में पीड़ा थी, और वह परेशान थी। उसके कारण हमारी गाड़ी के और ढीला होने की सम्भावना थी, परन्तु निराशा का पाठ मैंने पढ़ा ही नहीं। हम लोग लगभग 9 बजे शेराघाट पहुँचे।

शेराघाट सरयू के तट पर है। बागेश्वर गर्म जगह है और शेराघाट तो उससे भी नीचा है। यहाँ तो खूब तपता है। नदी के उस पार से रीठागाढ़ की पट्टी लगती है जो अल्मोड़ा की बहुत गर्म पट्टियों में से है। और यह आगे वाला रास्ता भी ठीक ही अपनी परेशानी पैदा करने वाली गर्मी के कारण बदनाम है।

मीलों, मैं नंगे पाँव, चलता आया था। पावों को कष्ट प्रतीत न होता था। वर्षा होने पर पानी में से चलने पर विशेष मज़ा आता था, बचपन फिर से मानो मुझ पर सवार हो जाता हो। परन्तु जब से गणाई वाली सड़क पकड़ी, पत्थर के टुकड़ों ने पाँव मानो छीलने आरम्भ कर दिये। यह सारा रास्ता ऐसे पत्थर के टुकड़ों से पटा है। शेराघाट से आगे के लगभग दस मील तो बहुत प्रसिद्ध हैं अपने चुभने वाले कंकड़ों के लिये। यह और भी इस रास्ते की विशेषता है। इसी रास्ते पर आज हमें चलना था।

शेराघाट में दुकान में दूध था। गर्ब्यांग से यहाँ तक रास्ते में जहाँ कई दुकानें थीं, वहाँ केवल चाय ही प्राप्त थी। आज शेराघाट में ही प्रथम हमने बिक्री के लिये दूध देखा। भूखे तो थे ही। किसी ने दूध पिया और किसी ने दही खाया। इस बीच लगभग 9.30 का समय हो रहा था। हम लोग चल दिये।

माताओं के मन में तो मन्सूबे थे कि आठ मील चलकर खाना-पीना होगा, परन्तु मैं जानता था कि ये सभी मनोहर कल्पनायें हैं, जो वास्तविकता में परिवर्तित न होंगी। यदि हम कनारीछीना, जो शेराघाट से लगभग पाँच मील होता है, पहुँच सकें खाने के लिये तो बड़ी बात होगी।

धूप खूब ही तेज़ थी। दीदी को तो कल की धूप में उस कोटेश्वर की चढ़ाई ने व्याकुल कर रखा था। आज तो वह और भी शिथिल थीं। पेट में पीड़ा भी थी। हम लोग एक मील गये होंगे कि दीदी वृक्ष की छाया में पड़ गईं। हम सभी लोग बैठ गये। सड़क के पार लगभग एक फर्लांग पर दो मकान थे। यदि छाछ मिल जाये तो इस धूप में शान्ति हो, इस विचार से दो माताओं को पात्र देकर भेजा। दीदी तो आगे चलने में अपने आपको असमर्थ ही समझ रही थीं। वह तो चाहती थीं कि वहीं पर खा पीकर मध्यान्ह के बाद चला जाये। छाछ तो वहाँ पाई नहीं, और खाने का सामान और खाना बनाने के लिये सामान भी मिलना मुश्किल था। वे दोनों मातायें अभी लौटी भी न थीं कि एक गेरुआ वसन माता आ गईं। वह दीदी की स्नेही थीं। उसकी कुटिया भी वहीं पर थी। उसने दीदी को कभी निमन्त्रित भी किया था। उसने हम सभी को अतिथि रूप में सहर्ष स्वीकार किया। हमारा परिवार बड़ा था, परन्तु उसका हृदय भी उदार था और स्नेह पूर्ण। अस्तु, हम लोग नीचे मकानों तक गये। मातायें भी धीरे-धीरे अपनी गठरियाँ ले कुटिया में जा पहुँची। कर्पूरी लाल और मैंने एक मकान में ही आश्रय लिया। बाहर जमीन तप रही थी।

कर्पूरी लाल की यहाँ पर मरहम पट्टी हुई। एक रोगी बालक के लिये औषधि दी गई। वही जो बिना परिचय के निठुर थे, अब द्रवित से हो गये। दीदी इन सभी को जानती थी। थोड़ा-थोड़ा करके

सभी सामान जुट गया। कहीं से दाल और शाक और किसी से दही। माता के पास कुटे हुए चावल थे ही। उसी की कुटिया में चूल्हा लगा। रसोई आज भी दीदी को ही बनानी थी।

पहाड़ में रसोई के बारे में बड़ी पेचीदगियाँ हैं। यदि चावल बनाने के लिये दीदी रसोई में न जातीं तो सभी मातायें अपना-अपना चूल्हा अलग लगातीं। वे एक दूसरे के हाथ का खाती न थीं, विधवायें कच्ची रसोई में बहुत परहेज करती हैं। दीदी को ही यह विरला अधिकार प्राप्त था कि उसके हाथ का सभी खा लेती थीं।

खाना बन गया और सभी ने खा लिया। फिर माताओं ने खाया। दीदी तो और व्याकुल हो गईं उस गर्मी तथा आग से। वह तो कुछ खा ही न पाईं। इतने में तीन बजने को थे। बिना चले तो हम लोग कहीं भी न पहुँच पाते। अस्तु, प्रेरणा करने पर मातायें भी उठीं और हम लोग सड़क पर पहुँच गये।

अब उतनी धूप न थी, परन्तु सड़क के पत्थर खूब चुभते थे। माताओं की गति मन्द थी। विचित्र निराशामय विचार इनके मनों में घूम रहे थे। रास्ते में इनके परिचय की स्त्रियाँ मिल गईं। कुछ दु:खद समाचार मिले, इस कारण और भी पाँव धीरे उठने लगे। कनारीछीना में जाकर हम दोनों रुके। खूब प्रतीक्षा की, जब इनके कोई चिन्ह न दीखे तो मैं लौटा। ये रास्ते में बैठी एक स्त्री से बातें कर रही थीं। मैं इनको लिवा लाया।

इस समय मेरे पाँवों की गति बिगड़ रही थी। जमीन पर एड़ी रखते नहीं बनती थी। पर चलना तो था ही, सो चले ही।

यहीं ज़रा आगे से धौलछीने की चढ़ाई लगती है। अधिक खड़ी चढ़ाई तो तीन ही मील है। सूर्य प्राय: अस्त होने को था। उधर ऊँचे पहाड़ के लग जाने से यहाँ छाया भी जल्दी आती है। कनारीछीना से हम लोग आगे बढ़े तो ठण्डा हो रहा था।

यह चढ़ाई जितनी भयंकर पहले प्रतीत हुआ करती थी, आज न हुई। एक तो ठण्डक थी, दूसरा चलते-चलते टाँगें अभ्यस्त हो चुकी थीं। इससे भयंकर-भयंकर न जाने कितनी चढ़ाइयाँ काट रखी थीं। यह तो कुछ भी न थी।

यह तीन मील का रास्ता बहुत जल्दी कट गया। इतनी जल्दी कट जायेगा ऐसी आशा न थी। यहाँ टुँग में एक परिचय वाले की दुकान थी। यहीं हमें रात को विश्राम करना था। सभी प्रकार की सुविधा हमें प्राप्त थी। दीदी को आज रसोई की छुट्टी रही। वह तो लेटी ही रहीं। हम लोग अगले दिन प्रातः अपने-अपने स्थानों पर पहुँच जायेंगे, यह सुनिश्चित था। रात के पिछले पहर में चाँदनी थी ही। अतः बहुत जल्दी चलने का निश्चय कर सो गये।

प्रातः चार ही बजे हम लोगों ने रास्ता पकड़ा। चाँदनी बहुत तो थी नहीं, अष्टमी का चाँद था, परन्तु चलने में कठिनाई न थी। हम लोग लगभग दो मील आये होंगे जब दिशायें खुलीं। वह उषा की लालिमा पूर्वाकाश को रंजित किये थी। हृदयाकाश में उठती हुई आशा की ऐसी ही तो आभा होती है।

यह रास्ता बड़ा रम्य है और ठण्डा भी है ही। जंगल में से होकर जाना होता है। धौलछीना से आधा मील नीचे एक दुकान पर थोड़ा विश्राम किया। आगे चलकर पगडण्डी पकड़ी और एक पहाड़ी नदी आ पहुँचे। यहीं पर स्नानादि करने की सोच रखी थी।

नदी का पानी खूब स्वच्छ था। ज़रा डुबकी लगाने को नीचे गहराई भी थी। इधर की चट्टानें उस स्थान को भला बना रही थीं। मैं वहाँ नीचे चला गया। आज के स्नान में भी एक सन्तोष तथा कृत-कृत्यता थी। चैन से स्नान किया। भाव उमड़ रहे थे कृतज्ञता के और वह विगत स्मृतियाँ सजीव हो उमंग रही थीं।

अब तो बाड़ेछिना तीन ही मील होता है। अधिक उतराई है और कुछ मैदानी रास्ता। ज़रा सी चढ़ाई भी है। जंगल में से उस प्रातः का चलना बड़ा भला लगता था। कर्पूरी लाल तो स्नान के लिये रुके न थे। दीदी तथा मैं बीते हुए दिनों और घटनाओं की चर्चा करते बाड़ेछिना आ पहुँचे। थोड़ी देरी में मातायें भी आ गईं। यहीं से हम सभी को अलग-अलग हो जाना था। कर्पूरी लाल तथा मुझको दिगोली जाना था और बाकी सभी को अपने-अपने गाँवों को, जो समीप ही थे।

यात्रा से लौटने पर मित्रों के मिलने में स्नेह की मात्रा विशेष रहती है। यात्री में वह भगवान की झलक देखते हैं। दूध से मेरा खूब सत्कार किया गया। जन्माष्टमी का उपवास तो था ही, अतः मैंने उसे स्वीकार किया। लगभग दस बजे हम दिगोली आ गये, इसी कुटिया में।

यह वही स्थल था, जिससे मैं खूब परिचित था, परन्तु आज इसमें नूतनता सी दीखती थी। वे ही मित्र घेरे बैठे थे, परन्तु एक निस्तब्धता सी व्याप्त हो रही थी। वाणी लजाती सी लगती थी। कैलाश-यात्रा का महत्व आज कुछ भारी सा हुआ हम सब पर छा रहा था। थोड़ी ही देर में सब संकोच छिन्न-भिन्न हो गया।

बाकी पार्टी भी दूसरे दिन प्रातः आ गई। वे लोग भी हमारे पीछे-पीछे तेज़ी से चलते चले आये थे। स्वामी जी दूसरे दिन साँझ को पहुँच पाये।

यह यात्रा की पूर्ति थी। कैलाश-पथ का पथिक आज लौट ही आया।

(43)

उपसंहार

(यात्रियों से)

मैंने यात्रा के वृत्तान्त को पथ-प्रदर्शन के लिये नहीं लिखा। इस प्रयोजन के लिये लिखी गई स्वामी प्रणवानन्द जी की पुस्तक है और अन्य भी हैं। फिर भी प्रसंगवश मैंने अपनी कठिनाइयों की चर्चा की है। उसी से कैलाश-पथ के यात्री बहुत कुछ सीख सकते हैं।

स्पष्टतः ही जोहरा का मार्ग अधिक कठिन है, परन्तु हिम दृश्यों के दर्शन भी जैसे यहाँ होते हैं वैसे लिपुलेख के घाटे में नहीं। इस

रास्ते से जाने के लिये, घाटों को पार करने में किन्हीं बातों का ध्यान रखना आवश्यक है।

हो सके तो प्रत्येक व्यक्ति के लिये सवारी का प्रबन्ध होना चाहिए। घोड़ों के बारे में भी यह सुनिश्चित करना आवश्यक है कि वे थके हुए न हों। धुरों से इधर टुँग में ही रहना चाहिए और प्रातः ही चल देना चाहिए, अधिक से अधिक 9 बजे तक। यदि देरी हो जाये तो उस दिन का चलना स्थगित करना ही श्रेयस्कर है। घोड़े वालों की बुद्धि पर आश्रित रहने से धोखा होने की ही अधिक सम्भावना है। साथ में लकड़ी का प्रबन्ध रखना भी अनिवार्य है, भले ही उसकी आवश्यकता न पड़े। आवश्यकता पड़ने पर जयन्ती के पार नजगाँव में पड़ाव किया जा सकता है।

बेहोशी, मितली, सिर दर्द तथा कमज़ोरी के लिये दवा पास रखनी चाहिए और यथासम्भव साथ-साथ चलना ही ठीक होता है। खाने-पीने का सामान इस रास्ते जाने वालों को लगभग 22 दिन का रखना चाहिए। सामान्यतः व्यक्ति जितना खाता है, उससे कम से कम डेढ़ गुणा रखना चाहिए। और साथ में चंवर वाले तिब्बती, दुभाषिये और मांगने वालों के लिये भी सामग्री रखनी चाहिए। तिब्बत में अनाज की कीमत पैसे से कई गुणा अधिक है। अतः लकड़ी, आदि भी अनाज से ही बदलना ठीक होता है। तिब्बती सिक्कों की (टाँकों की) आवश्यकता नहीं पड़ती।

खाने-पीने के सामान में आटा सबसे मुख्य है। सत्तू तथा चिउड़े भी विशेष उपयोगी हैं। गुड़-पापड़ी (पंजीरी भी) बहुत काम निकालती है। गुड़ साथ में रखना अच्छा रहता है। चलने में भी काम आता है और गरमाई भी देता है। घी साथ में ले जाना ही अच्छा होता है। वहाँ का घी सभी लोग खा नहीं पाते। मेवे भी हितकर होते हैं।

सुखाये हुए शाक विशेषकर पत्ती वाले अत्यन्त आवश्यक हैं। धुरों में प्रभाव से जिगर सुस्त हो जाता है। वैसे भी तिब्बत का खुश्क जाड़ा जिगर को ही विशेषतः प्रभावित करता है। पत्तीदार शाक जिगर के लिये, विशेष हितकर होते हैं। यदि धुरों के लिये इस प्रकार का

कोई शाक बना कर रखा जाय, अथवा मूली आदि कच्ची रखी जा सके तो बहुत सम्भव है कि उतना प्रभाव न पड़े।

घाटे पार करने में स्थान-स्थान पर बैठने से और अधिक तकलीफ होती है। खड़े ही आराम कर, आगे चलते जाना चाहिए। बेहोशी होने पर घबराना नहीं चाहिए। स्प्रिट अमोनिया (Spirit Ammonia) सुंघाने से यदि लाभ न हो तो मुँह में डाल देने से होश आने की सम्भावना रहती है।

इस रास्ते जाने वालों के लिये, पानी के लिये, बोतल साथ रखनी बहुत आवश्यक है। कई दिन रास्ते में दिन भर पानी नहीं मिलता। यदि अधिक मात्रा में पानी रखने का प्रबन्ध हो सके तो लिक्शिफू के लिये पानी लेकर चलना चाहिए।

फुल-बूट्स ठीक काम दे सकते हैं। अन्य जूते, ओले गिर जाने पर, जाड़े और पानी को रोकने में असमर्थ रहते हैं।

पार्टी बहुत बड़ी न होनी चाहिए। 4-5 व्यक्ति और एक नौकर यही समुचित प्रमाण प्रतीत होता है। अन्यथा रसोई बनाने में विशेष दिक्कत की सम्भावना है। अधिक आदमी हों तो दो अथवा अधिक जगह भोजन बनाने का प्रबन्ध होना चाहिए।

वैसे तम्बू, जिसमें भोटिये दुकान लगाते हैं, बहुत अच्छे रह सकते हैं। किराये पर लेने की बजाय अपना बनवाना ही अच्छा है। तकलाकोट में बेचा जा सकता है। उससे आगे तम्बू की आवश्यकता भी नहीं होती। नीचे के जाड़े को रोकने के लिये खालें ठीक रहती हैं और ऊपर के लिये कम्बल। रजाई ठण्डी हो जाती है और फिर गर्म होने में नहीं आती।

जाने का समय जुलाई का आरम्भ ही सर्वोत्तम है। बहुत जल्दी जाने में भी धुरों में बर्फ अधिक मिलता है। बाद में जाने में तिब्बत में मौसम खराब होने की अधिक सम्भावना है। भारत की वर्षा और तिब्बत की ऋतु का कोई सीधा सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। हम लोगों को तिब्बत में वर्षा तकलाकोट में अगस्त के प्रथम सप्ताह में मिली परन्तु अल्मोड़े में जुलाई में अतिवृष्टि रही।

- श्री राम -

आधुनिक समय में कैलाश यात्रा

यात्रा मार्ग एवं समय सारणी आजकल कैलाश यात्रा अपेक्षाकृत सुगम व सुरक्षित है। भारत सरकार का विदेश मन्त्रालय चीन सरकार के साथ मिलकर प्रति वर्ष इसका आयोजन करता है। भारत की सीमा के अन्दर कुमाऊँ मण्डल विकास निगम लिमिटेड इस यात्रा की व्यवस्था करता है। तिब्बत में व्यवस्था वहाँ की एक टूरिस्ट एजेन्सी करती है।

पूरी यात्रा में रात्रि विश्राम हेतु पड़ावों की व्यवस्था है, जिनमें बिस्तर इत्यादि उपलब्ध होते हैं। कैलाश व मानस परिक्रमा को छोड़ बाकी समय पड़ावों में भोजन की व्यवस्था भी है। सुरक्षा हेतु सुरक्षा कर्मी एवं वायर लैस सेवायें उपलब्ध हैं। पूरी यात्रा में गाइड साथ होता है। भारतीय सीमा के अन्दर डाक्टर भी उपलब्ध है।

बड़ी संख्या में यात्रा हेतु आवेदन प्राप्त होने के कारण यात्रियों का चयन लाटरी द्वारा होता है। फिर डाक्टरी परीक्षा होती है जिससे यात्री की इस कठिन यात्रा के लिये क्षमता निश्चित की जाती है। इस यात्रा का विवरण निम्नानुसार है।

पहला दिन – दिल्ली से कौसानी – 458 कि.मी. बस द्वारा।
दिल्ली से मुरादाबाद, रामपुर, हल्द्वानी, अल्मोड़ा होकर कौसानी।

दूसरा दिन – कौसानी से धारचूला – 190 कि.मी. बस द्वारा।
बैजनाथ, बागेश्वर, चौकोड़ी, थल डीडीहाट, जैलजीवी होकर धारचूला – यह काली नदी के तट पर है।

तीसरा दिन – धारचूला से तवाघाट – 19 कि.मी. बस द्वारा।
तवाघाट से पैदल यात्रा प्रारम्भ होती है। पांगू ॐ (2,200 मीटर) पर पड़ाव, जहाँ ठाशीधार की चढ़ाई पार करके पहुँचते हैं।
तवाघाट पर धौली और काली नदी का संगम है।

चौथा दिन – पांगू से नारायण आश्रम होकर सिरवा – 9 कि.मी.

पाँचवाँ दिन – सिरवा से गाला – 12 कि.मी.
पहले उतार फिर घने जंगलों के बीच संगलिंग टाप (3,048 मी.) को पार कर, उतरते हुए, सिमखोला नदी को पार करते हैं। फिर गाला गाँव आता है जिसे पार करके गाला पड़ाव है।

छठा दिन – गाला से माल्पा – 11 कि.मी.
मार्ग में जिप्ती से थोड़ा आगे 4,444 सीढ़ियाँ उतरकर काली नदी के किनारे पहुँचते हैं। मार्ग में बहुत से सुन्दर झरने हैं – नजंग। आगे कुछ चढ़ाई एवं उतार के बाद है माल्पा (2,050 मी.) काली नदी के किनारे।

सातवाँ दिन – माल्पा से बुधी – 1 कि.मी.
काली से थोड़ा हटकर है बुधी। यहाँ गाँव भी है।

आठवाँ दिन – बुधी से गुँजी – 17 कि.मी.
बुधी से कुछ आगे चढ़ाई के बाद आता है व्यास क्षेत्र। यहाँ फूलों भरे मैदान हैं। नीचे काली नदी व उस पार अन्नपूर्णा पर्वत व चोटी उत्तर पूर्व की ओर है गब्र्यांग गाँव। काली के किनारे-किनारे चलकर, कुटी नदी पार कर गुँजी पहुँचते हैं। यहाँ काली और कुटी का संगम है। यहाँ से कुटी के किनारे-किनारे मार्ग आदि कैलाश (छोटा कैलाश) को जाता है। यह कुटी से स्रोत प्रदेश में स्थित है।

नौवाँ दिन – गुँजी से कालापानी - 10 कि.मी.
कालापानी (3,900 मी.) में एक चट्टान के नीचे से आ रहे पानी को परम्परागत रूप से काली नदी का स्रोत माना जाता है। यहाँ मन्दिर भी है। कुछ ऊपर व्यास गुफा है।

दसवाँ दिन – कालापानी से नाबीढांग – 1 कि.मी.

नाबीढांग (4,200 मी.) भारत में अन्तिम पड़ाव है। यहाँ से ओम पर्वत के दर्शन होते हैं। ओम पर्वत पर हिम से ॐ बनता है। कहते हैं कि ओम को रचने वाली बर्फ कभी पिघलती नहीं है।

ग्यारहवाँ दिन – नाबीढांग से तकलाकोट

तीव्र चढ़ाई के बाद लिपूलेख दर्रा (5,334 मी.) आता है। फिर उतराई के बाद 4 कि.मी. तक जाने के बाद बस उपलब्ध होती है, जिससे तकलाकोट स्थित पुरंग गेस्ट हाउस पहुँचते हैं। यहाँ पासपोर्ट, कागज सामान इत्यादि की जाँच होती है।

बारहवाँ दिन – तकलाकोट में विश्राम

तेरहवाँ दिन – तकलाकोट से दारचिन (तारचेन) एवं होट – 110 कि.मी. बस द्वारा।

यात्रियों के दो दल बनाये जाते हैं। पहला दल कैलाश की एवं दूसरा दल मानसरोवर की परिक्रमा करता है। इसके बाद दूसरा दल कैलाश व पहला दल मानसरोवर की परिक्रमा करता है।

तकलाकोट से गुरला पास करके राक्षसताल और फिर मानसरोवर आता है। पहले दल को दारचिन पहुँचाया जाता है एवं दूसरे दल को होर।

चौदहवाँ दिन – दारचिन से हेराफूक तथा होर से टुगो गोम्पा पहला दल ल्हादू नदी के साथ-साथ 20 कि.मी. पैदल चलकर डेराफूक (4,900 मी.) पड़ाव पहुँचता है। यहाँ से कैलाश के उत्तरी भाग के भव्य दर्शन होते हैं।

दूसरा दल मानसरोवर के पश्चिमी किनारे पर स्थित सेरालुँग गोम्पा तथा चेरंगों गोम्पा होकर टुगो गोम्पा पहुँचता है। यहाँ पड़ाव है।

पन्द्रहवाँ दिन – डेराफूक से जुटुलपुक तथा टुगो से जैदी पहला दल कठिन चढ़ाई चढ़कर डोलमा पास (5,636 मी.)

पहुँचता है। कुछ नीचे गौरीकुण्ड के दर्शन होते हैं। डोलमा पास से नीचे उतरकर लामछू नदी के किनारे-किनारे चलकर जुटुलपुक पहुँचता है।
दूसरा दल जोंसुल गोम्पा होकर जैदी पड़ाव पहुँचता है। परम्परागत रूप से जैदी एवं होर के बीच यात्रा नहीं होती है और परिक्रमा पूरी मान ली जाती है।

सोलहवाँ दिन – जुटुलपुक से दारचिन
पहला दल जोंगछू नदी के साथ-साथ चलकर आगे उमाछयू को पार कर दारचिन पहुँचता है। दूसरा दल जैदी में विश्राम करता है।

सत्रहवाँ दिन – जैदी से दारचिन व दारचिन से होर
पहले दल को बस द्वारा होर एवं दूसरे दल को बस से दारचिन पहुँचाया जाता है।

अठारवाँ, उन्नीसवाँ व बीसवाँ दिन – पहला दल मानसरोवर व दूसरा दल कैलाश परिक्रमा करता है।

इक्कीसवाँ दिन – वापस तकलाकोट
दोनों दलों को बस द्वारा वापस तकलाकोट लाया जाता है।

बाइसवाँ दिन – तकलाकोट से खोचरनाथ और वापस बस द्वारा तकलाकोट से लगभग 22 कि.मी. दूर करनाली नदी की घाटी में स्थित खोचरनाथ गोम्पा ले जाया जाता है। यह स्थान नेपाल की सीमा के निकट है। यहाँ एक कक्ष में श्री राम, श्री लक्ष्मण एवं माता जानकी जी की विशाल प्रतिमायें भी हैं। इसी दिन वापस तकलाकोट आते है।

तेइसवाँ दिन – तकलाकोट
यह विश्राम का दिन होता है।

चौबीसवाँ दिन – तकलाकोट से लापूलेस होकर नाबीढांग में ओम पर्वत के दर्शन कर कालापानी पड़ाव।
पच्चीसवाँ दिन – कालापानी से गुँजी
छब्बीसवाँ दिन – गुँजी से बुधी
सत्ताईवाँ दिन – बुधी से माल्पा
अठाइसवाँ दिन – माल्पा से गाला
उन्तीसवाँ व
तीसवाँ दिन – सिरखा से तवाघाट
और फिर बस द्वारा तवाघाट से धारचूला
इक्तीसवाँ दिन – धारचूला से कौसानी, बस द्वारा
बत्तीसवाँ दिन – कौसानी से दिल्ली. बस द्वारा

❖ ❖ ❖

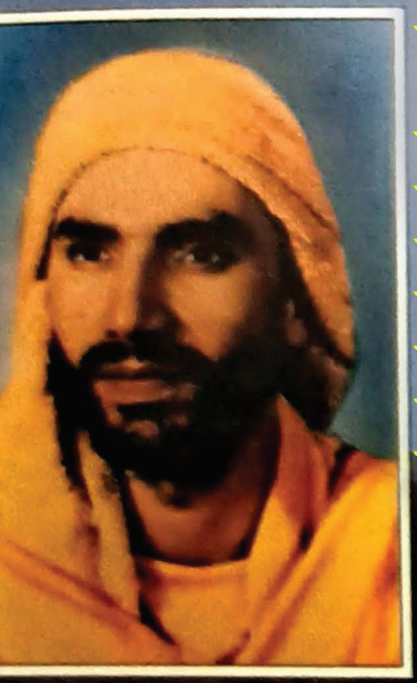

इस यात्रा में पूज्य गुरुदेव के भीतर जो भाव उठे, जो अनुभूतियाँ हुईं, उनकी चेतना ने जो उड़ान भरीं, उन्हें पढ़कर पाठक की चेतना भी उन्हीं ऊँचाइयों के आसपास कहीं मंडराने लगती है। गुरुदेव का सान्निध्य सजीव हो उठता है। पाठक को भान होने लगता है कि गुरुदेव सजीव हैं, उनके साथ हैं, अनेकों को ऐसा अनुभव हुआ है। - पुरुषोत्तम